ओ३म्

विष्णु-देवता

[वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों के
आधार पर]

◈

लेखक—
श्री भगवद्दत्त वेदालंकार, एम. ए.
सम्पादक : गुरुकुल-पत्रिका

◈

नवम्बर	५००	मूल्य
सन् १९६४	प्रतियां	२.००

प्रकाशक—
धर्मपाल विद्यालङ्कार,
प्रशासक : गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार ।
कृते अनुसन्धान विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

मुद्रक—
जी० आर० पाल,
अध्यक्ष : गुरुकुल कांगड़ी मुद्रणालय, हरिद्वार ।

विष्णु देवता का स्वागत

श्री पंडित भगवद्दत्त जी वेदालंकार गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के सुयोग्य स्नातक हैं। आप गुरुकुल के वैदिक अनुसन्धान विभाग में एक लम्बे अरसे से काम कर रहे हैं। वेदों के भिन्न-भिन्न विषयों पर आपने अनेक खोजपूर्ण पुस्तकें लिखी हैं। ऋभु देवता, वैदिक स्वप्न विज्ञान आदि आप की कई पुस्तकें गुरुकुल से प्रकाशित हो चुकी हैं। आपकी कई अन्य पुस्तकें अभी तक प्रकाशित नही हो पायी। उनमें से "विष्णु देवता" नामक आपकी यह पुस्तक अब प्रकाशित हो रही है। वेद के विभिन्न देवताओं में एक देवता विष्णु भी है। वेदों के व्याख्या-ग्रन्थ ब्राह्मण-ग्रन्थों में विष्णु का बहुत ही अधिक उल्लेख हुआ है। वेद और ब्राह्मणग्रन्थों में पृथक्-पृथक् प्रकरण और प्रसङ्गों में विष्णु के विभिन्न अर्थ और अभिप्राय वर्णित किये गये हैं, इन सब प्रकरणों और प्रसङ्गों का अध्ययन करने से विष्णु का जो स्वरूप सामने आता है उसका उल्लेख और विवेचन इस विष्णु देवता पुस्तक में किया गया है। वेदों के अध्ययन में श्री पडित भगवद्दत्त जी की यह पुस्तक अच्छी उपयोगी सिद्ध होगी। यह पुस्तक लिख कर श्री पं० भगवद्दत्त जी

ने वैदिक वाङ्मय पर लिखे गये साहित्य में एक उपयोगी पुस्तक की वृद्धि की है। गुरुकुल के वैदिक अनुसन्धान विभाग की ओर से यह पुस्तक स्वाध्याय प्रेमी जनता के सम्मुख प्रस्तुत की जा रही है। जिस प्रकार श्री पं० भगवद्दत्त जी की पूर्व प्रकाशित रचनाएं वैदिक स्वाध्याय प्रेमी सज्जनों ने पसन्द की हैं। आशा है प्रस्तुत पुस्तक भी उसी प्रकार पसन्द की जावेगी।

प्रियव्रत वेदवाचस्पति
आचार्य एवं अध्यक्ष
वैदिक अनुसन्धान विभाग,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

विषय-सूची

प्राक्कथन

प्रिय पाठक वृन्द !

विष्णु देवता सम्बन्धी यह पुस्तिका आप के समक्ष उपस्थित है। यह पुस्तिका 'गुरुकुल-पत्रिका' के विष्णु-अङ्क (अगस्त-सितम्बर १९६४) में भी प्रकाशित हुई है। वेदों में विष्णु-देवता का वर्णन अग्नि, इन्द्र आदि देवताओं की अपेक्षा अति न्यून है परन्तु ब्राह्मण-ग्रन्थों ने इस विष्णु को यज्ञ मान कर इसका बहुत विशद वर्णन किया है। ब्राह्मण-ग्रन्थों के विष्णु-सम्बन्धी इस याज्ञिक स्वरूप से यह ध्वनित होता है कि ब्राह्मण-ग्रन्थों के आधार पर यदि यजुर्वेद को विष्णु-वेद कह दिया जाय तो इसमें कोई अत्युक्ति न होगी। क्योंकि सृष्टि में जितनी भी उत्पत्ति है या जितना भी कर्म है वह दो अणुओं व दो तत्त्वों के सयोग से उत्पन्न होता है इन दो अणुओं व दो तत्त्वों के संयोग व सन्धि को शास्त्रकारों ने विष्णु नाम दिया है। यज्ञ में भी दो का संयोग, मेल व सन्धि (यज्ञ = यजन = यजुः = सङ्गति करण) होती है इसी दृष्टि से शतपथादि ब्राह्मण-ग्रन्थों में विष्णु को प्रायः यज्ञ नाम से सम्बोधित किया गया है और उनमें इसी यज्ञ अर्थात् विष्णु का प्रपञ्च ही प्रचुर रूप में उप-

लब्ध होता है। हमने इस पुस्तिका में वर्णित विष्णु के विवेचन में प्रमुख रूप से ब्राह्मण-ग्रन्थों का सहारा लिया है परन्तु ब्राह्मण-ग्रन्थों की कर्मकाण्ड सम्बन्धी परिभाषाओं को पूर्ण रूप में हृदयंगम कर सकना अति दुष्कर है। अतः यह नहीं समझ लेना चाहिये कि इस पुस्तिका में विष्णु का समग्र रूप स्पष्ट हो गया है। विष्णु सम्बन्धी अध्यात्म क्षेत्र अर्थात् पिण्ड में जो वैष्णव यज्ञ निष्पन्न हो रहा है उसका ही हमने यहां स्पर्शमात्र किया है और विष्णु सम्बन्धी कई विषय अब भी अछूते रह गये हैं। आधुनिक वैष्णव मत में प्रमुख रूप से एक भक्ति ही प्रमुख है। वेद में वह वैष्णवानुमोदित भक्ति का वर्णन है कि नहीं और यदि है तो उसका क्या स्वरूप है, इत्यादि विषय बहुत विवादास्पद हैं। इस सम्बन्ध में हम अपने विचार संक्षेप में दिये देते हैं।

विष्णु और भक्ति

वैष्णव धर्म में भक्ति का बड़ा महत्त्व है। एक प्रकार से वैष्णव धर्म का यह सर्वस्व है। भक्ति बड़ा व्यापक विषय है। प्राचीन आचार्यों ने इस सम्बन्ध मे बहुत कुछ लिखा है। भगवद्गीता में

भी इसको बहुत महत्त्व दिया गया है।

हम यहां भक्ति के स्वरूप व उसके विविध अङ्गों के विस्तृत विवेचन में तो नहीं जाना चाहते पर संक्षेप में संकेत मात्र अवश्य कर देना चाहते हैं।

वैष्णव धर्म विष्णु को अपना परम आराध्य देव मानता है। यह विष्णु वेद का एक देवता है। वेदों में वर्णित अग्नि, इन्द्र व सोम आदि की दृष्टि से देखा जाए तो विष्णु कोई महत्त्व शाली देवता प्रतीत नहीं होता। क्योंकि अग्नि व इन्द्रादि की अपेक्षा विष्णु के सूक्त व मन्त्र अत्यल्प हैं। पर हमारे विचार में वैदिक देवताओं के गौण व मुख्य भाव के निर्णय में यह पूर्ण कसौटी नहीं है क्योंकि प्रत्येक देवता का अपना-अपना क्षेत्र है, जहां कि उसी का महत्त्व है। अपने क्षेत्र में सब अन्यों की अपेक्षा महत्त्वशाली हैं। अस्तु! यह प्रसगागत बात हमारे विचार क्षेत्र के बाहर है। अतः इसको हम यहीं समाप्त करते हैं विचारणीय प्रश्न यह है कि वैष्णव धर्म में जो भक्ति का स्वरूप दर्शाया गया है क्या वह वेदों से आया है अथवा यह पश्चात् कालीन समावेश है? प्रायः आधुनिक विद्वान् भक्ति को संहिताकाल के पश्चात् का ही

स्थान देते हैं। उनके मत में सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय में भक्ति का प्रचलित स्वरूप दृष्टिगोचर नहीं होता। उनका यह कथन है कि एक तो भक्ति शब्द का प्रयोग ही सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय में अति न्यून है। और जहां भक्ति शब्द का प्रयोग हुआ भी है, वहां उसका अर्थ प्राचीन भाष्यकारों ने सम्भजन, विभाग, लाभ आदि किया है। वैदिक शब्दों का निर्वचन पूर्वक अर्थ दर्शाने वाले निरुक्त में भी भक्ति शब्द भाग अर्थ में माना है, तो प्रश्न यह है कि क्या वैदिक काल में वैष्णव-सम्मतभक्ति के आधुनिक स्वरूप का कोई स्थान नहीं है? इसके उत्तर में कई विद्वानों का मत यह है कि वेदों में सर्वाङ्गपरिपूर्ण भक्ति की सत्ता विद्यमान है और वह भगवान् की स्तुति प्रार्थना और उपासना के रूप में वहां उपलब्ध होती है। भक्ति के उन त्रिविध अंगों का वेदों में बहुत वर्णन है परन्तु कई विद्वान् विकासवाद का उपनेत्र पहन कर वैदिक भक्ति में क्रमिक विकास का दर्शन करते हैं। उन के मत में वैदिक काल में यज्ञ, याग, जप, ध्यान व योग आदि की सत्ता तो विद्यमान है पर भक्ति की नहीं। उनके इस दृष्टिकोण का एक हेतु यह

है कि वेदों में वैष्णव-सम्मत भक्ति शब्द ही नहीं है। दूसरे वेद एक विशिष्ट प्रकार के कर्मकाण्ड की पुस्तक है उसमें भक्ति का स्थान कहां ? और तीसरे स्तुति, प्रार्थना व उपासना भक्ति से न्यून है। इस प्रकार अनेकों हेतु प्रस्तुत किये जाते हैं। इन पर विस्तृत विचार तो हम यहां नहीं करेंगे। पर संक्षेप में हम अपना दृष्टिकोण यहां प्रस्तुत करते हैं।

वेद अति प्राचीन है। वेदों के पठन पाठन की परम्परा के टूट जाने से उनके शब्दों का ठीक-ठीक स्वरूप निर्धारण कर सकना अति दुष्कर है। इसी दृष्टि से वेद के स्तुति, प्रार्थना व उपासना आदि शब्दों की इयत्ता व स्वरूप-निर्धारण भी आसान नहीं है। वेदों में उपासना शब्द का बहुत वर्णन है। क्या वेद का उपासना शब्द भक्ति का स्थान नहीं ले सकता ? क्या उपासना मन के उल्लास-विशेष को, परम प्रेमरूपा या ईश्वर के प्रति परानुरक्ति को द्योतित नहीं करती? गीता के "मय्यावेश्य मनो ये नित्ययुक्ता उपासते" उपर्युक्त श्लोक में प्रयुक्त उपासना शब्द आधुनिक भक्ति का स्थान नहीं ले सकता ? ये कुछ प्रश्न हैं जिनका

समाधान होना आवश्यक है। हमारे विचार में उपासना शब्द बहुत व्यापक है। जप,ध्यान व योग के साथ-साथ भक्ति भी उसके गर्भ में समाविष्ट है। उपासना शब्द का वास्तविक अर्थ तो यह है कि अपने आराध्य देव के गर्भ में आसीन होना, उसका सान्निध्य करना (उप+आसना)।

अतः प्रश्न यह पैदा होता है कि भक्ति का पूर्ववर्ती वैदिक शब्द क्या है? इसके साथ यह भी विचारणीय विषय है कि विष्णु देवता सम्बन्धी मन्त्रों में भी भक्ति का वर्णन है कि नहीं? इस सम्बन्ध में हमारा विचार है कि विष्णु देवता के मन्त्रों में भक्ति शब्द से तो भक्ति का वर्णन है ही नहीं और स्तुति, प्रार्थना व उपासना का भी वहां विशेष दर्शन नहीं होता। इसी कारण प्रायः विद्वान् यह स्वीकार करते हैं कि वेदों व विष्णु देवता के मन्त्रों मे भक्ति का स्थान नहीं है और वैष्णव सम्प्रदाय में भक्ति की सत्ता उसके क्रमिक विकास का परिणाम है। परन्तु इस सम्बन्ध में हमारा दृष्टिकोण कुछ भिन्न है। और वह यह कि वेदों में ही विष्णु देवता के साथ भक्ति का अटूट सम्बन्ध दर्शाया गया है वह किस प्रकार है यह हम संक्षेप

में प्रस्तुत करते हैं।

भक्ति का नाम गायत्री है

भक्ति का आदि स्रोत व उसका वैदिक नाम गायत्री है। गायत्री पर कुछ विस्तृत विचार हम ने विष्णु के प्रथम पग की व्याख्या करते हुए किया है। यहां संक्षेप में इतना कहना है कि गायत्री की उत्पत्ति में गान मुख्य है। एक प्रकार से गायत्री का प्रारम्भिक रूप संगीत व गान में निहित है। दैवत ब्राह्मण ३।२, ३ में आता है कि 'गायतेः स्तुति कर्मणः गायतो मुखादुदपतत्'' अर्थात् स्तुति-कर्मक "गै" धातु से गायत्री शब्द निष्पन्न होता है और गान करते हुए व्यक्ति के मुख से इसकी उत्पत्ति होती है। वेद में भी आता है कि—

गायन्ति त्वा गायत्रिण। ऋ. १।१०।१

अर्थात् हे इन्द्र, गायत्री पुरुष तेरा गान करते हैं। भगवान् में लवलीन होकर गान करना ही गायत्री है। मन का यह एक उल्लास-विशेष है। यही परम प्रेमरूपा परानुरक्ति है। अतः हम यह निस्संकोच भाव से कह सकते हैं कि वैष्णवानु-मोदित भक्ति के लिये वैदिक शब्द गायत्री है। परन्तु प्रश्न यह पैदा होता है कि गायत्री के स्थान

पर भक्ति का प्रयोग कब क्यों और कैसे हुआ ? इस सम्बन्ध में हमारा विचार यह है कि "भक्ति" शब्द "भज सेवायाम्" धातु से बनता है अर्थात् भक्ति में सेवा प्रमुख है। जिस समय निराकार भगवान् को अवतार रूप में माना जाने लगा और भगवान् कृष्ण को ईश्वर का अवतार स्वीकार किया गया तब से गायत्री के स्थान पर भक्ति का प्रचलन हुआ। यह समय महाभारत काल के आसपास का है। जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण भगवद्गीता तथा पुराण हैं। भगवद्गीता तथा भागवतादि पुराणों में भक्ति का विशद वर्णन मिलता है इससे पूर्ववर्ती ग्रन्थों अर्थात् वैदिक साहित्य में भक्ति शब्द का प्रयोग नगण्य है और इस रूप में नहीं आता हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि उस काल में वैदिक युग समाप्त हो रहा था। विद्वान् लोग वैदिक परिभाषाओं के स्वरूप को भूल गये थे और उस समय ईश्वरावतार के रूप में भगवान् कृष्ण को स्मरण किया जाने लगा था। जब भगवान् स्वयं शरीर धारण कर सामने उपस्थित है तो उसकी सेवा व परिचर्या ही असली भक्ति होती है। दास अपने स्वामी की सेवा करना ही

परम उद्देश्य मानता है। इस अवस्था में यह स्वाभाविक है कि संगीत-प्रधान गायत्री का स्थान भक्ति ने ले लिया। तदनन्तर भगवान् कृष्ण के शरीररूप में न रहने पर उनकी मूर्ति बना पूजा व सेवा चलती रही और भक्ति शब्द अक्षुण्ण रहा। मूर्तिरूप भगवान् को पत्र, पुष्प व जल आदि द्वारा भोग कराने में सेवा समझी जाने लगी। इसके विपरीत गायत्री का स्वरूप गान का है। निराकार भगवान् की उपलब्धि में गान स्वाभाविक है, सेवा का वहां प्रश्न ही पैदा नहीं होता है और भगवान् को अवतार रूप में साकार मानने पर सेवा स्वाभाविक होती है। अतः "भज सेवायाम्" धातु से निष्पन्न भक्ति ईश्वर का अवतार मानने पर प्रचलित हुई यह मानना उपयुक्त प्रतीत होता है। भक्ति का परानुरक्ति व परम प्रेमरूपा भाव वेदों में गायत्री द्वारा उक्त होने पर भी गायत्री का लुप्त हो जाना और भक्ति शब्द का प्रचलन होना काल परम्परा का स्वाभाविक परिणाम है। ऐसे अनेकों शब्द हैं जो कि वैदिक काल के पश्चात् प्रचलित हुए परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उसके समकक्ष उस भाव

व क्रिया आदि के द्योतक शब्द वेदों में नहीं हं। उदाहरणार्थ 'वासना' शब्द को देखा जा सकता है। वेदों में वासना शब्द का प्रयोग नहीं है परन्तु वासना का द्योतक शब्द वेद में वल या वृत्र है। यह हमने "अध्यात्मविद्या" (वलासुर-वध) नामक पुस्तक में स्पष्ट किया है। कहने का तात्पर्य यह है कि आधुनिक भक्ति शब्द के परम प्रेमरूपा व परानुरक्ति भाव को वेदों में गायत्री शब्द से द्योतित किया गया है। वस्तुत: भक्ति, भजना तथा बोलचाल की भाषा में प्रयुक्त 'भजन' शब्द प्रमुख रूप से एक ही भाव को द्योतित करते हैं और वह गायत्री अर्थात् गान है। आजकल भजन गान का ही पर्यायवाची बना हुआ है। गायत्री में भी गान ही है इस तथ्य को "गायन्ति त्वा गायत्रिण:" मन्त्र स्पष्ट कर रहा है।

विष्णु की त्रिपदी में गायत्री का प्रारम्भिक स्थान

विष्णु की त्रिपदी में प्रथम पद गायत्री द्वारा निष्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त अगले दो पद त्रिष्टुप् और जगती द्वारा पूरे होते हैं। भक्ति का यदि वैदिक नाम गायत्री है तो हम इस त्रिपदी के

आधार पर यह कह सकते हैं कि गायत्री व भक्ति अन्तिम स्थिति नहीं है। इससे आगे त्रिष्टुप् और जगती की स्थिति है परन्तु सोमाहरण में गायत्री ही श्येन बन कर सोम लाने में सक्षम होती है त्रिष्टुप् और जगती नहीं। सोम आनन्द का प्रतिनिधि है अर्थात् गायत्री आनन्द को उत्पन्न करने वाली है। भक्ति में भी आनन्द की उपलब्धि है। इससे यह ध्वनित होता है कि गायत्री व भक्ति का प्रथम स्थान होते हुए भी भगवान् के अन्तिम कोष अर्थात् आनन्दमय कोष से इसका सम्बन्ध है। गायत्री में आनन्द की पराकाष्ठा है। और वह आनन्दमय प्रभु को उपलब्ध कराने वाली है परन्तु फिर भी हम यह कह सकते हैं कि यह विष्णु का प्रथम पद है। भक्त गायत्री व भक्ति को एक उल्लास विशेष मानसवृत्ति मानते हैं। पर विचारणीय यह है कि जो त्रिगुणात्मक स्थिति से तथा मन से ऊपर उठ कर निस्त्रैगुण्य स्थिति में पहुंचना हमारे शास्त्रों मे विहित हुआ है, उससे कई विचारक यह भी अभिव्यक्त कर सकते हैं कि भक्ति व ईश्वर में परानुरक्ति भगवदुपलब्धि में एक सोपान मात्र ही है पर अन्तिम सोपान नहीं। और

भक्ति की फलरूपा स्थिति में तो यह और भी अवर श्रेणी में आती है। अद्वैतवादियों की दृष्टि में स्तुति प्रार्थना, उपासना व भक्ति आदि अवर कोटि में ही आते हैं। ब्रह्मभाव में होने पर ये सब लुप्त हो जाते हैं। लोक लोक नहीं रहता, देव देव नहीं, पिता पिता नहीं अर्थात् सब एकमेवाद्वितीयं में समा जाते हैं। कहने का तात्पर्य यही है कि भक्ति का स्थान द्वैत में है अद्वैत में नहीं। और अद्वैत में भी अद्वैत प्राप्ति से पूर्व की स्थिति में ही इसकी सत्ता है।

ज्ञान-भक्ति

विद्वानों में ज्ञान और भक्ति को लेकर बड़ा विवाद रहता है। क्या ये दोनों परस्पर विरोधी हैं ? अथवा एक दूसरे के सम्पूरक हैं। हमारे विचार में इनमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है किसी अंश में ये एक दूसरे के पूरक ही होते हैं। भगवद्गीता के आधार पर चतुर्विध भक्तों में ज्ञानी को सर्वोत्तम भक्त बताया है और अन्य स्थल पर यह दर्शाया है कि भगवान् के तात्त्विक रूप का ज्ञान भक्ति से ही होता है। अतः हम यह निस्सं-

कोच भाव से कह सकते हैं कि भक्ति और ज्ञान परस्पर विरोधी नहीं हैं ये एक दूसरे के पूरक हैं। इसमें हेतु यह है कि भक्ति के प्रभाव से रज और तम अभिभूत हो जाते हैं और सत् प्रबल शक्तिसम्पन्न बन जाता है। सत् ज्ञान का आधार है अतः भक्ति द्वारा सत् के प्रकाशमान् होने से ज्ञान आविर्भूत होता है। इसी दृष्टि से गीता की निम्न उक्तियां चरितार्थ होती हैं।

"भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः" 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' 'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्ति विशिष्यते।' ज्ञान की पराकाष्ठा भगवज्ज्ञानोपलब्धि में हो है। कहा भी है "यस्मिन् विदिते सर्वं विदितं भवति, यस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति" इत्यादि उपनिषद की उक्तियां भी इसी तथ्य की ओर निर्देश कर रही हैं। सत्य ज्ञान और भागवत ज्ञान में कोई अन्तर नहीं है, अतः भक्ति सत्य ज्ञान की उपलब्धि में एक साधन है। भक्ति क्या है ? और वह क्या करती है इस पर यदि सूक्ष्म विचार किया जाय तो हम यह कह सकते हैं भक्ति भगवान् की ओर सर्वतोभावेन मनुष्य का मुंह मोड़ने वाली है।

एक-भक्ति व अनन्य भक्ति की स्थिति में मनुष्य का भगवान् के प्रति पूर्ण समर्पण के सिवाय कुछ अवशिष्ट रहता ही नहीं। क्योंकि यह प्रेमपरिप्लवता एक वृत्ति है जो कि समग्र पुरुष को खींच कर भगवदुन्मुख करने वाली है। जब भक्ति के साथ ज्ञान का भी सम्पर्क हो जाता है तब ऐसा व्यक्ति गीता के आधार पर सर्वोत्कृष्ट भक्त माना जाता है। अतः ज्ञान और भक्ति अपनी प्रारम्भिक अवस्था में भिन्न-भिन्न हैं तो अपनी अन्तिम अवस्था में ये दोनों एकाश्रय हैं, परस्पर सम्पूरक हैं इनमें पार्थक्य दिखा सकना अशक्य है। इन दोनों में एकत्व व परस्पर पूरकत्व कुछ इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है कि भक्ति रथ में आरूढ़ हो अग्रया बुद्धि के घोड़े भगवान् की ओर प्रयाण में अत्यन्त वेग से जाते हैं। अर्थात् भक्ति-रथ है और उसमें बुद्धि के घोड़े जुते हुए हैं। यह सर्वोत्तम भक्ति है। इस प्रकार हमारे विचार में वेद में भक्ति का स्थान है और वह गायत्री रूप में है। भक्ति और ज्ञान एक दूसरे के पूरक हैं।

—भगवद्दत्त वेदालंकार

★★

विष्णु-देवता

(वेद व ब्राह्मणग्रन्थों के आधार पर)

ऋग्वेद में विष्णु देवता सम्बन्धी सम्पूर्ण सूक्त केवल ५ हैं और तत्सम्बन्धी कुछ मन्त्र व सूक्तांश इतस्ततः बिखरे पड़े हैं, इस से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वेदों मे विष्णु का स्थान अग्नि, इन्द्र व सोम आदि देवताओं की अपेक्षा कम महत्त्व का है। इसके विपरीत वेदों की अपेक्षा ब्राह्मण ग्रन्थों ने विष्णु को अधिक महत्त्व दिया है और इसके स्वरूप को अत्यधिक मात्रा में पुष्पित व पल्लवित किया है। ब्राह्मण ग्रन्थ यज्ञों के व्याख्या ग्रन्थ हैं और यज्ञ को वे विष्णु मानते हैं। अतः ब्राह्मण ग्रथों को प्रमुख रूप से विष्णु देवता के विवेचन ग्रन्थ माना जावे तो इसमें कोई अत्युक्ति न होगी। परन्तु विचारणीय विषय यह है कि ब्राह्मण ग्रन्थों मे जो यज्ञ को विष्णु और विष्णु को यज्ञ माना है क्या ये यज्ञ और विष्णु शब्द परस्पर पूर्णार्थ व पूर्ण पर्यायत्व के द्योतक हैं ? कईयों के विचार मे ये परस्पर पूर्णपर्याय नहीं हैं, यज्ञ विष्णु के अतिरिक्त कुछ और भी है। अनेकों यज्ञों में वैष्णव यज्ञ भी एक है। जिस यज्ञ में वामन से विष्णु बनने व व्याप्ति

धर्म वाला होने आदि की प्रक्रिया होगी वह यज्ञ वैष्णव यज्ञ कहला सकता है। इसमें त्रिविक्रम अर्थात् तीन पाद-विक्षेप आवश्यक है। इसी दृष्टि से वामन रूप भी सर्वांश में विष्णु नहीं है। हां; त्रिपदी के पश्चात् इसने विष्णु रूप को धारण करना होता है। इसी कारण ऋग्वेद में विष्णु के लिए वामन शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। वैसे तो "सर्वे शब्दाः सर्वार्थवाचकाः" यह सिद्धान्त माना जाता है। अर्थात् सब शब्द उस सर्वव्यापी भगवान् के वाचक हैं। वेद के अग्नि, इन्द्र, वरुण, आदित्य, विष्णु, वामन आदि नाम उस परम प्रभु भगवान् के ही नाम हैं। परन्तु ये सब उस 'एकमेवाद्वितीयम्' के नाम होते हुए भी सृष्टि के आधार पर अपना-अपना विशिष्ट रूप भी रखते हैं। प्रकृति व सृष्टि की किस प्रक्रिया व तत्त्व के ये द्योतक हैं? किस तत्त्व व शक्ति के अधिष्ठाता बन सृष्टि के किस कार्य का वे निर्वाह करते हैं वह भी हमें देखना चाहिए?

वेदों में विष्णु का स्वरूप क्या है? वेद के प्रमुख देवों में इसकी गणना की जानी चाहिए कि नहीं, वेद प्रतिपादित विष्णु के रूप को ब्राह्मण

ग्रन्थों व आरण्यकों आदि ने अक्षुण्ण बनाए रक्खा या उसमें कुछ परिवर्तन व परिवर्द्धन किया है इत्यादि अनेकों विवादास्पद विषय हैं, जिन पर पूर्ण अधिकार से लेखनी चला सकना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। क्योंकि वेद व ब्राह्मण ग्रन्थादि वैदिक साहित्य की परिभाषाएं, उनकी वर्णन शैली, उसके ऋषि व देवी देवता आदि विषय इतने गुह्य व प्रच्छन्न रूप के हैं कि उन्हें पूर्णतया समझ सकना दुष्कर ही है। पाश्चात्य जगत तथा तदनुयायी आधुनिक भारतीय विद्वत् समाज वेदों को क्रमिक विकास की कसौटी पर रख कर ही तद्गत विषयों पर विचार प्रकट करता है। परन्तु भारत की आर्ष परम्परा इसके विपरीत रही है। वे वेदों को परमात्मप्रदत्त आदि-काव्य मान कर विचार करते रहे हैं और क्रमिक विकास के पचड़े में कभी नहीं पड़े हैं।

भारत में प्रचलित आधुनिक वैष्णव धर्म तथा ऐतिहासिक दृष्टि से उसका क्रमिक विकास व ह्रास आदि विषय इस प्रस्तुत ग्रन्थ की विचार कोटि में नहीं हैं, इस लिए इन विषयों पर यहां कुछ विचार प्रगट करना अप्रासंगिक होगा। इस

निबन्ध में हम प्रायः वेद, ब्राह्मण, आरण्यक आदि आर्ष साहित्य तक ही अपने को सीमित रक्खेंगे। वेदों में विष्णु का स्वरूप क्या है? और ब्राह्मण ग्रन्थों ने उस वैदिक स्वरूप को अक्षुण्ण रक्खा या उसमें कुछ परिवर्तन किया अथवा सर्वथा नवीन विचारों को अभिव्यक्त किया इत्यादि विषयों का पूर्ण समाधान व पूर्ण समन्वय वही व्यक्ति कर सकता है जो कि ब्राह्मण ग्रन्थों की गुह्य व प्रच्छन्न याज्ञिक प्रणाली को भली भांति जानता है। हमारे इस निबन्ध का विष्णु, प्रमुख रूप से ब्राह्मण ग्रन्थों का विष्णु है। इस दृष्टि से अब हम विष्णु पर विचार प्रारम्भ करते हैं।

विष्णु शब्द का निर्वचन

सर्व प्रथम हम विष्णु शब्द के निर्वचनों को यहां प्रदर्शित करते हैं। भगवान् का विष्णु रूप सृष्टि में आकर प्रारम्भ में ही विष्णु नहीं बन जाता। यह प्रारम्भ में वामन है और तीन विक्रमणों के द्वारा ऊर्ध्व में द्युलोक में पहुंच कर वहां से सर्वत्र व्याप्त होने के कारण विष्णु बनता है।

विष्णु शब्द की भिन्न-भिन्न निरुक्तियां उसके

भिन्न-भिन्न कार्यों व गुणों की द्योतक है। किसी ऋषि व आचार्य को विष्णु के किसी विशिष्ट गुण व कार्य की महत्ता अधिक प्रतीत हुई तो उसने तदनुरूप निरुक्ति प्रमुख रूप से प्रदर्शित की, तो किसी दूसरे ऋषि व आचार्य ने इसी आधार पर अन्य निरुक्ति स्वीकार की, परन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि आर्ष दृष्टिकोण की प्रतीयमान विभिन्नता उसके विभिन्न गुणों व कार्यों की द्योतक होती है, न कि वास्तविक विभेद की। इस प्रकार गुण क्रिया व क्षेत्रभेद से वैदिक शब्दों के निर्वचनों में विभिन्नता होना स्वाभाविक है। विष्णु की जितनी भी निरुक्तियां की जाती है उन में हम एक सामञ्जस्य व एक प्रक्रिया अनुस्यूत देखते है, वह यह कि गति होना, गति द्वारा अभीष्ट वस्तु में प्रविष्ट होकर उसे व्याप्त कर लेना। इस प्रकार विष्णु के स्वरूप निर्धारण में हमें गति, प्रवेश और व्याप्ति ये तीन क्रियायें दृष्टिगोचर होती है। अब हम विष्णु शब्द की निरुक्तियों को दिखाते है।

यास्काचार्य[१] व्याप्त्यर्थक तथा प्रवेशार्थक

---

१ यद् विषितो भवति तद् विष्णुर्भवति विष्णुर्वि-

धातुओं से निष्पन्न मानते हैं। स्वामी दयानन्द१ व्याप्तिपरक मानते हैं। विष्णु पुराण२ में आता है कि इस समग्र विश्व में उस महात्मा की शक्ति प्रविष्ट होकर कार्य कर रही है। कूर्म पुराण३ विभु होने से उसे विष्णु मानता है। महाभारत४ में विक्रमण के कारण भी उसे विष्णु माना है। उद्योगी५ व क्रियाशील होने (The active one)

शतेर्वा व्यश्नोतेर्वा। —निरु० १२।१८

१. वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगत् स परमेश्वरः।
—दयानन्द

२. यस्माद् विश्वमिदं सर्वं तस्य शक्त्या महात्मन.।
तस्मादेवोच्यते विष्णुर्विशधातोः प्रवेशनात्।
--विष्णु पुराण

३. विभुत्वाद् विष्णुरुच्यते। —कूर्म पुराण

४. यदिदं किंच तद् विक्रमते विष्णुरिति। क्रमणा-
च्चाप्यहं पार्थ विष्णुरित्यभिसंज्ञितः।
--महाभारत शान्तिपर्व

विष्णुर्विक्रमणाद् देवो०।
--महाभारत उद्योगपर्व

५ पादावध्यात्ममित्याहु ब्राह्मणास्तत्वदर्शिन.।

पर्वत शिखर पर आरोहण आदि दृष्टियों से कई व्युत्पत्तियां यूरोपीय विद्वानों ने भी दर्शायी है। महाभारत१ नीलकण्ठीय टीका में विष्णु की कई उत्पत्तियों की ओर निर्देश हुआ है। स्वामी दयानन्द ने विष्णु के परमेश्वर, सब विद्याओं में व्यापनशील मनुष्य, सूर्य, विद्युत्, यज्ञ, हिरण्यगर्भ, वायु, आकाश, प्राण आदि अर्थ किए हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ, सूर्य, सोम, अग्नि, दिन और रात्रि की सन्धि, वीर्य, गर्भ, श्रोत्र आदि अनेकों अर्थ आते हैं। वेदार्ष कोष, वैदिक कोष।

गन्तव्यमधिभूत च विष्णुस्तत्राधिदैवतम्।
--महाभारत मोक्षपर्व

वि+स्नु=ओल्डनबर्ग, वि+स्नु (सानु) ब्लूम फील्ड, विश--मैक्डोनल

१. विच्छन्ति गच्छन्ति लीयन्तेऽस्मिन् विच्छन्त्यस्माल्लोका इति वा वेवेष्टि व्याप्नोतीति विच्छयति दीप्यत इति वा। विच्छगतौ तुदादि', विच्छ दीप्तौ चुरादि', विषु सेचने भ्वादिः, विष्लृ व्याप्तौ जुहोत्यादिः, विश्प्रवेशने तुदादिः, ष्णुप्रस्रवणे अदादि., विग्रशूङ् व्याप्तौ स्वादिः।

यास्काचार्य तथा अन्य कई आधुनिक विद्वान् सूर्य को विष्णु मानते हैं। परन्तु हमारे विचार में निरुक्त का सूर्य ब्रह्माण्डव्यापी अनेकों विष्णुरूपों में एक है। यह पूर्ण विष्णु नहीं है इसे हम प्रत्यक्ष विष्णु कह सकते हैं। विष्णु के लिए 'पूर्व्यः' और 'नवीयस्' ये दोनों विशेषण आते हैं। भगवा् में तो ये घटते ही हैं। पर 'पूर्व्य' और 'नवीयस्' ये दोनों विशेषण उस रेतस् रूप विष्णु भगवान् मे समाविष्ट व समन्वित समझने चाहियें। यदि पूर्व में 'रेतस्' नहीं है तो सृष्टि कैसे उत्पन्न हो सकती है। यही पूर्व्य सर्वतः पूर्वभावी भागवत रेतस् ओषधि वनस्पति आदि क्रम से मनुष्य में प्रविष्ट हो रस, रक्त, मांस, मेदा, मज्जा आदि रूपों में परिणत होता हुआ रेतस् की अन्तिम कक्षा में जा बैठता है। इस से यह नव-जन्म धारण कर नवीयस् व नवीन भी बन जाता है। इस प्रकार इस समग्र सृष्टि में पूर्व्य और नवीयस् का वृत्त चालू है। यह हमारा सौरमण्डल का अधिष्ठाता प्रत्यक्ष दृश्यमान सूर्य (प्रत्यक्ष विष्णु) प्रत्यक्ष पदार्थों की वृष्टि से पर है और परोक्षतत्वों में अवर है। प्रत्यक्ष द्वारा ही परोक्ष पकड़ में आता है।

इसी लिए यास्क आदि कई आचार्यों ने इस प्रत्यक्ष विष्णु की ओर इन सूक्तों का तात्पर्य प्रदर्शित किया है। वास्तव में विष्णुतत्व तो सर्वव्यापक शक्ति है। सूर्य भी विष्णु रूप धारण कर ऊर्ध्व से इस सौर-मण्डल में अभिव्याप्त है और इस अनन्त पारावार ब्रह्माण्ड में अनन्त सूर्यों की शक्ति विष्णु रूप में अभिव्याप्त हुई २ है। अतः हमें यास्क आदि आचार्यों के तात्पर्य को इस प्रत्यक्ष विष्णु सूर्य में ही सीमित नहीं करना चाहिए। अपितु ब्रह्माण्डव्यापिनी सौर-शक्ति दूसरे शब्दों में अग्नि-शक्ति को विष्णु समझना चाहिए। महाभारत में आता है—

> अग्निर्विष्णुः सर्वभूतान्यनुप्रविश्य
> प्राणान्धारयन्ति।
>
> महा. मोक्ष ३४२। १५

अतः यास्काचार्य आदि प्राचीन व अर्वाचीन कई विद्वानों के मत में यह सौर-शक्ति विष्णु रूप में सर्व प्राणियों में अभिव्याप्त हुई २ है। आयुर्वेद के ज्ञाता प्राणियों के प्राणों को धारण करने वाली इस वैष्णव शक्ति को 'त्रिधातु' (वात, पित्त,

श्लेष्मा) नाम से पुकारते हैं।

महा. मोक्ष ३४२।८६-८७

विष्णु देवता (पिण्ड में)

पौराणिक जगत् में यह कहावत प्रसिद्ध है कि ब्रह्मा, विष्ण और महेश इन तीनों भागवत रूपों में ब्रह्मा सृष्टि सर्जन करने वाला, विष्णु सृष्टि को स्थिर रखने वाला तथा महेश सृष्टि का संहार करने वाला है। ब्रह्मा जब सृष्टि का सर्जन करता है, तब विष्णु इस त्रैगुण्यमयी सृष्टि के सत्व गुण का आश्रय ले सृष्टि-यज्ञ को स्थिर व चालू रखता है। सृष्टि के एक-एक अणु रेणु में नाना प्रकार के यज्ञ निरन्तर निष्पन्न हो रहे हैं। उन सब यज्ञों को सतत रूप से चालू रखना विष्णु के प्रमुख कार्यों में से एक है। इसी आधार पर शास्त्रकारों ने स्वयं विष्णु को यज्ञ मान लिया है। जिस भांति इस ब्रह्माण्ड में नानाविध यज्ञ निष्पन्न हो रहे हैं, उसी भांति इस पिण्ड में भी वे सब यज्ञ सूक्ष्म रूप में चालू हैं। अतः विष्णु का साक्षात्कार 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' इन द्विविध रूपों में किया जा सकता है। इन ब्रह्माण्ड यज्ञों का कुछ ज्ञान तो

भौतिक विज्ञान से होता है, पर इनका पूर्णज्ञान व इन पर कुछ नियन्त्रण पिण्डगत यज्ञों के साक्षात्कार पर निर्भर है । अर्थात् इन पिण्डयज्ञों को पूर्ण व दिव्य बनाने के अनन्तर ब्रह्माण्डगत यज्ञों का ज्ञान अनायास ही हो जाता है । इसी साक्षात्कार के बल पर ऋषियों द्वारा यह अद्भुत तथा अश्रुत-पूर्व उद्घोष हुआ था कि 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' जो पिण्ड में है, वही ब्रह्माण्ड में है। अतः इन सब पिण्ड व ब्रह्माण्ड यज्ञों को चालू रखने वाली भगवान् की वैष्णव-शक्ति को समझने के लिए प्रमुख रूप में पिण्ड में विद्यमान इस वैष्णव-यज्ञ के स्वरूप पर हम कुछ प्रकाश डालते हैं ।

पिण्डगत क्षेत्र में विष्णु क्या शक्ति है और उसका क्या स्वरूप है यह एक गम्भीर विषय है। शास्त्रों में जिन तत्वों को विष्णु की संज्ञा दी गई है, उनमें कुछ इस प्रकार है—

१. वीर्यं विष्णुः ।

तै. ब्रा. १।७।२।२

२. शिपिविष्ट (वीर्यम्) ।

यज्ञो वै विष्णुः शिपिविष्टः ।।
तां. ब्रा. ९।७।१०

३. प्रादेशमात्रो वै गर्भो विष्णुः ।
श. प. ६।५।२।८, ६।६।२।१२, ७।५।१।१४

४. यो वै विष्णुः सोमः स ।
श. प ३।६।३।१९

५. त्वं विष्णुरुरुगायो नमस्यः (अग्निः)
ऋ. २।१।३

अर्थात् वीर्य (शिपिविष्ट) गर्भ, सोम, अग्नि आदि ये सब विष्णु नाम से सम्बोधित हुए हैं अतः पिण्डगत विष्णु के स्वरूप-निर्धारण में ये विशेष रूप में विवेचनीय हैं । अब हम इन पर कुछ विचार प्रस्तुत करते हैं ।

विष्णु–सोम

मनुष्य व अन्य प्राणी जो अन्न ग्रहण करते हैं वह शरीर मे रस, रक्त आदि रूपों में परिणत होता हुआ अन्त मे रेतस् वीर्य व ओज रूप को

धारण करता है । यह वीर्य१ व ओज शास्त्रों में सोम नाम से भी प्रख्यात है। यहां इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वेद में वीर्य का केन्द्रीय अर्थ पुरुष के वीर्य से ही है । वीर्य का पराक्रम आदि अर्थ वीर्य-धारण का परिणाम है, क्योंकि निर्वीर्य पुरुष में पराक्रम नहीं हो सकता। इसलिए विष्णु के प्रसग मे "वीर्याणि" से पराक्रम विक्रमण आदि अर्थ वीर्य धारण के परिणाम समझने चाहिए। प्रमुख सकेत यहां वीर्य धारण से है। जब यह वीर्य रूपी सोम२ ऊर्ध्व रेतस् प्रक्रिया अर्थात् वैष्णव गति द्वारा सिर में प्रवेश करता है तब वह विष्णु देवता के क्षेत्र में होता है और स्वयं विष्णु का रूप धारण कर लेता है। श. प. ३.५.१.३ में पुरुष यज्ञ (पुरषो वै यज्ञः) के प्रसङ्ग में सिर को हविर्धान३ कहा गया है। क्योंकि सिर मे विद्यमान

---

१. रेतो वै सोमः। श प. १।९।२।९

२. सोम सन्त विष्णुमिति यजति तद् यदेवेद क्रीतो विशतीव तदुहैवास्य वैष्णवं रूपम् ।
शा. ब्रा. ८।२

३. शिर एवास्य हविर्धानं वैष्णव देवतयाऽथ यद-

देवताओं के भक्षण के लिए उत्क्रमण क्रिया द्वारा आयी हुई सोमरूप हवि इसमें रक्खी जाती है। अतएव सिर की हविर्धान संज्ञा उचित व उपयुक्त है। परन्तु जब स्त्री और पुरुष कामाग्नि१ से संतप्त होते हैं तब यह वीर्य व रेतस् पुरुष द्वारा स्त्री-गर्भ मे सिञ्चित किया जाता है। इस दृष्टि से यह स्त्री-गर्भ भी हविर्धान है, क्योंकि यहां वीर्य-रूपी हवि रक्खी जाती है। इस प्रकार मनुष्य का सिर तथा स्त्रीयोनि ये दोनों हविर्धान हैं। दोनों ही स्थानों मे उत्पत्ति है। क्योंकि यह वीर्य व रेतस् जहां भी पहुंचता है, वहां ही प्रजनन-प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। ऊर्ध्वस्थित मस्तिष्क मे देवों का प्रजनन है तो अधस्थित स्त्री-गर्भ में मानव का प्रजनन है। रेतस्-द्वारा यह उभयविध प्रजनन-

---

स्मिन् सोमो भवति हविर्वै देवानां सोमस्तस्माद्ध-विर्धानं नाम। श. प. ३।५।३।१-५।

१. अथ यत्पत्न्यक्षस्य सन्तापमुपानवित। प्रजननमेवैतत् क्रियते यदा वै स्त्रियं च पुंसश्च सन्तप्यतेऽथ रेतः सिच्यते तत्ततः प्रजायते॥ श. प. ३।५।३।१६

प्रक्रिया प्राजापत्य यज्ञ कही गयी है। और सब प्राजापत्य यज्ञ वैष्णव-धाम माने गए हैं। अतएव संहिता के ये उद्गार हैं कि—

"वैष्णवानि धामानि स्थ प्राजापत्यानि।"
मै स १।१।१२

अर्थात् सब वैष्णव धाम प्रजापति से सम्बन्धित हैं। प्रजापति का कार्य यह है कि प्रजाओं१ का सर्जन कर उनका पालन पोषण करना। विष्णु का भी कार्य सृष्टि-प्रवाह को स्थायित्व प्रदान करना तथा प्रजापालन करना है। अतः यह निस्संकोच भाव से कहा जा सकता है कि इस उपर्युक्त क्षेत्र में विष्णु और प्रजापति एक ही हैं। जो प्राजापत्य यज्ञ है वे सब वैष्णव यज्ञ भी हैं। यहां हमें इस बात का अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि स्त्री-गर्भ में वीर्य का सिञ्चन यज्ञ रूप से केवल पुत्रोत्पादन के लिए है न कि कामाग्नि के अस्थायिशमन के लिए। सोम२ का प्रजापति की तैंतीस दुहिताओं

---

१ प्रजापते ! प्रजा सृष्ट्वा पालयस्वेति तस्मात् प्रजापतिरभवत्। गो. पू. १।४

२. प्रजापतेस्त्रयस्त्रिंशद् दुहितर आसन् ताः सोमाय

में से केवल एक रोहिणी पर ही अत्यधिक आसक्त हो जाना राजयक्ष्मा की उत्पत्ति में कारण बनता है। इससे शरीराभ्यन्तरवर्ती अन्य यज्ञों का विनाश ही होता है। केवल मात्र, पुत्रोत्पत्ति के लिये स्त्री-प्रसंग राजयक्ष्मा का कारण नहीं है, यह तो यज्ञ है। छान्दोग्योपनिषत[1] में पुत्रोत्पत्ति को अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यज्ञीय रूप प्रदान किया गया है। अतः इन शरीर-यज्ञों को स्थिर व चालू रखने के लिये इस वीर्य रूपी सोम के ऊर्ध्वारोहण की अत्यन्त आवश्यकता है। यह सोम रूप वीर्य[2] ही शरीर के समग्र यज्ञों का प्रवर्तक है, यह देवों का हवि[3] बनता है। देव इस सोम का भक्षण कर

राज्ञेऽददात् । तासां रोहिणीमुपैत् ' ' तद् राजयक्ष्मस्य जन्म ॥ तै. स २।३।५।१–१४

१. योषा वाव गौतमाग्निस्तस्या उपस्थ एव समिद् यदुपमन्त्रयते स धूमः । छा. उ. ५।५।८

२. स (सोम.) तायमानो जायते स यन् जायते तस्मात् यन्जो यन्जो हवै नामैतद् यद् यज्ञः । श प ३।६।४।२३

३ यो वै विष्णु सोमः स हवि र्वा एष देवानां

परिपुष्ट होते हैं। इससे ये दिव्य ज्ञान की उत्पत्ति में सहायक बनते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि समग्र ज्ञान-विज्ञान की उत्पत्ति में यह सोम भी सहायक होता है। शरीर के एक-एक अणु-रेणु में व्याप्त हो उनके क्रिया-कलापों को यह करने वाला है।

विष्णु–ध्रुव दिशा

विष्णु को ध्रुवा[1] दिक् का अधिपति माना जाता है। ध्रुवा नीचे की दिशा को कहते हैं। इसका दूसरा भाव ध्रुवता व स्थिरता का भी है। ध्रुवा के इन दोनों भावों का समन्वय इस प्रकार समझना चाहिये कि ब्रह्माण्ड व पिण्ड दोनों क्षेत्रों में प्रवर्तित यज्ञों की ध्रुवता व स्थिरता नीचे से है। नीचे की दिशा से ऊर्ध्व को आरोहण करना ही यज्ञ को ध्रुव व स्थिर रखने का सर्वोत्तम

भवति। श. प. ३।६।३।१६

जुष्टा विष्णव इति जुष्टा सोमाय।

श. प. ३।२।४।१२

१. ध्रुवा दिक् विष्णुरधिपतिः।

उपाय है। शरीर मे सर्वत्र व्याप्त ज्ञानेन्द्रियां बाह्य स्थानों से ज्ञान-रस का पान कर ऊर्ध्व में स्थित मस्तिष्क की ओर प्रयाण किया करती हैं। इस प्रकार शरीरान्तर्गत यह ज्ञान-यज्ञ अहर्निशि चालू रहता है। उदर मे अन्न का पाचन होकर जब यह अन्न-रस ऊर्ध्व की ओर आरोहण करता है तब शरीर का यह स्थूल-यज्ञ प्रवर्तित रहता है। इसी भांति अण्डकोष मे उत्पन्न होकर यह वीर्य मस्तिष्क की ओर ऊर्ध्वारोहण करता हुआ जब देह के समग्र संस्थानों में परिव्याप्त होता है तब ही शरीर की समग्र शक्तियां परिपुष्ट हो अपना-अपना कार्य सुचारू रूप से सम्पन्न किया करती हैं। परन्तु ये सब यज्ञ विष्णु के स्थूल यज्ञ हैं। उसका दिव्य व सूक्ष्म यज्ञ उस समय प्रवर्तित होता है जब कि सुषुम्णा काण्ड मे स्थित दिव्य ज्ञान के केन्द्र खुलते जाते हैं। यह सुषुम्णाकाण्ड स्कम्भ१ हैं जिसके द्वारा विष्णु ने मस्तिष्क 'उत्तर सधस्थ' को थामा हुआ है। अतः हम यह कह सकते हैं कि विष्णु वह शक्ति है जो कि वीर्य (सोम) आदि को ऊर्ध्व

---

१ यो अस्कभायदुत्तर सधस्थम् ऋक् १।१५४।१।

को ओर प्रेरित करती है इसी दृष्टि से शतपथ ब्राह्मण में पूर्वोक्त पुरुष यज्ञ को एक कण्डिका मे आता है कि इस यज्ञ को ऊर्ध्व में देवलोक१ में ले चलो। यह देवलोक मस्तिष्क२ है जहां कि देवरूप सब इन्द्रियां विराजमान हैं। और इससे यह मस्तिष्क हविर्धान कहलाता है। यहां यह स्मरणीय है कि रक्तमिश्रित वीर्य की रक्तानुधावन-प्रक्रिया द्वारा ऊर्ध्वगति वैष्णव गति नहीं है। वस्तुतः विष्णु सम्बन्धी ऊर्ध्वगति उसी अवस्था में चरितार्थ होती है जब कि वीर्य रूपी सोम चिन्तन, स्वाध्याय तथा अन्य किसी विशिष्ट यौगिक प्रक्रिया द्वारा ऊर्ध्व मे पहुंच दिव्य ज्ञान की उपलब्धि मे कारण बनता है। क्योंकि सोमरूप वीर्य का क्रय करना पड़ता है अतः रक्तानुधावन प्रक्रिया द्वारा वीर्य का सामान्य रूप से ऊर्ध्वा-

---

१. ऊर्ध्वमिम यज्ञ देवलोक नयतम्।
श. प. ३।५।३।१७

२ शिर एवास्य हविर्धान वैष्णवं देवतयाथ यदस्मिन् सोमो भवति हवि र्वै देवानां सोमस्तस्माद्धविर्धानं नाम। श प ३।५।३।२

रोहण यहां अभीष्ट नहीं है। क्रीत सोम को ही विष्णु कहा जाता है। इस विषय को हम आगे भी प्रदर्शित करेंगे। इस प्रकार हमने वीर्य व सोम के वैष्णव रूप पर विचार किया। यह वीर्य वैदिक भाषा में सोम ही है। यह सोम जब ऊर्ध्व गति द्वारा मस्तिष्क में पदार्पण करता है तो इस की संज्ञा विष्णु होती है अथवा यह विष्णु रूप में परिणत हो जाता है। यह क्रीत सोम किन साधनों व प्रक्रियाओं से ऊर्ध्वगति करता है यह हम विष्णु के उत्क्रमणों पर विचार करते हुए स्पष्ट करेंगे।

विष्णु-अग्नि

वेदादि[१] शास्त्रों में विष्णु और अग्नि दोनों का पृथक्-पृथक् वर्णन हुआ है तो फिर प्रश्न पैदा होता है कि कई स्थलों पर अग्नि को विष्णु क्यों कहा गया है? इस सम्बन्ध में शास्त्रों पर गंभीर विवेचन के पश्चात् हम यह कह सकते हैं कि सामान्य रूप में अग्नि और विष्णु एक नहीं है, वे पृथक्-पृथक् हैं। पर ऊर्ध्वारोहण की एक विशिष्ट प्रक्रिया में

---

१. ऋक्. २।१।३ श. प. ६।७।२।१०-१६

यह अग्नि भी विष्णु का रूप धारण कर लेती है। अथवा यह भी कह सकते हैं कि प्रकृति में ऊर्ध्वारोहण का गुण अग्नि का है। विष्णु जो ऊर्ध्वारोहण करता है वह अग्नि के आश्रय से ही करता है। अतः १तैत्तिरीयारण्यक १,८ में विष्णु का परायण अर्थात् सर्वश्रेष्ठ आश्रय (अयन) अग्नि और वायु को माना है। इससे यह ध्वनित होता है कि विष्णु में ऊर्ध्वारोहण का गुण सम्भवतः अग्नि के कारण हो। ऋग्वेद २।१। सूक्त मे यह स्पष्ट निर्देश है कि सब देवता अग्नि से ही उत्पन्न होते हैं। विष्णु भी अग्नि का ही एक रूप है। पर यह होते हुए भी हम यह कह सकते हैं कि सामान्य रूप में अग्नि और विष्णु एक नहीं हैं ये दोनों पृथक्-पृथक् हैं। यदि ये दोनों अभिन्न होते तो वेदों में इन देवताओं के सूक्त पृथक्-पृथक् न होते। तो अब प्रश्न यह पैदा होता है कि इनका पार्थक्य किस प्रकार का है? शास्त्रों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'देवों का परम पद२ विष्णु है तो

१. अग्नयो वायवश्चैव। एतदस्य (विष्णोः) परायणम्। तै. आ. १।८

२. अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमः। ए.ब्रा.१।१

प्रथम पद अग्नि है' 'विष्णु यज्ञ का परार्ध्य१ है तो अग्नि अवरार्ध्य है।' इस प्रकार शास्त्रों के अनुशीलन से यह पता चलता है कि विष्णु अग्नि से पृथक् है। अग्नि मे विष्णुत्व का आरोप अथवा अग्नि के विष्णु भाव का समाधान हमारे विचार में यह है कि यज्ञ के अवरार्ध्य मे कार्य करती हुई अग्नि अग्नि ही रहती है। पर जब यह अग्नि ऊर्ध्वक्रमण कर यज्ञ के परार्ध्य में पहुंचती है तो यह अपने रूप को समाप्त कर विष्णुभाव मे सम्मिलित हो जाती है। शरीर का अधोभाग या स्थूल भाग अग्नि के अधीन है तो शरीर का ऊर्ध्व भाग या सूक्ष्मभाग विष्णु के अधीन है। गर्भोपनिषत्२ के आधार पर

---

१. अग्नि वैं देवानामवराध्यों विष्णु· परार्ध्यः।
कौ. ७। १
अग्नि वैं यज्ञस्यावराध्यों विष्णु· परार्ध्यः।
श. प. ५।२।३।६

२. शरीरमिति कस्मात्। अग्नयो ह्यत्र श्रयन्ते ज्ञानाग्नि दर्शनाग्निः कोष्ठाग्निरिति। तत्र कोष्ठाग्नि र्नामाशितपीतलेह्यचोष्यं पचति। दर्शनाग्नी रूपाणां दर्शन करोति ज्ञानाग्निः

एक कोष्ठाग्नि है दूसरी ज्ञानाग्नि है। कोष्ठाग्नि अग्नि है ज्ञानाग्नि विष्णु।

विष्णु के अग्नि और सोम रूपों का समन्वय व समाधान हम एक और दृष्टि से भी कर सकते हैं। वह यह कि "यह १संसार दो तत्वों से मिल कर बना है। वे दो तत्व हैं अग्नि और सोम।" जिस प्रकार दिन और रात को सन्धि सन्ध्या कहलाती है उसी प्रकार अग्नि और सोम की सन्धि को शास्त्रों में विष्णु२ कहा गया है। अग्नि में प्रकाश है अतः यह अहन् अर्थात् दिन है। सोम प्रकाशरहित है, रमण का साधन है अतः यह रात्रि है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि अग्नि और सोम इन दोनों की सन्धि से यह सृष्टि-यज्ञ चल रहा है और यह सन्धि विष्णु मानी गई है। क्योंकि सृष्टि में समग्र निर्माण इन दोनों की सधि पर आश्रित माने हैं

शुभाशुभ च कर्म करोति। गर्भोपनिषत्

१ द्वय वा इद न तृतीयमस्ति। आर्द्रंचैव शुष्क च यदार्द्र तत् सौम्यं यच्छुष्क तदाग्नेयम्।

२. अग्नि र्वा अहः सोमोरात्रिरथ यदन्तरेण तद् विष्णु.। श प. ३।४।४।१५

इसी दृष्टि से शास्त्रों में विष्णु को सन्धि, यज्ञ, सन्धिविधायक अग्नि, सोम तथा मिथुनधर्मप्राजापत्य माना गया है। अतः इस अवस्था में ये दोनों अग्नि और सोम विष्णु के रूप हो जाते हैं। अपनी पृथक् स्थिति में तो ये अपने-अपने रूप वाले हैं। परन्तु सन्धि अवस्था में ब्रह्माण्ड व पिण्ड यज्ञों के अश रूप हो विष्णु कोटि में आ पहुंचते हैं। इन दोनों की सन्धि १यजु यज्ञ व विष्णु नाम से सम्बोधित होती है। हमें विष्णु के यज्ञ रूप पर विचार करते हुए यह भी स्मरण रखना चाहिये कि यज्ञों की स्थिति तथा यज्ञ की चरितार्थता सन्धि में है। किन्हीं दो तत्वों की सन्धि के बिना यज्ञ निष्पन्न नहीं हो सकता। अतः विष्णु दो२ रसों की सन्धि का नाम है। इसी लिये प्राजापत्य यज्ञ वैष्णव धाम माने हैं क्योंकि वहां दो का मिथुन है। सन्धि, संयोग,

---

१. यजूषि विष्णुः। श.प. ४।६।७।३,
यज्ञो वै विष्णुः।

२ तदेव परम ब्रह्म वैष्णवं परमाद्भुतम्।
रसात्मक तदैश्वर्य विकारान्ते प्रदृश्यते।
हरिवश भविष्य पर्व १६।२४।२५

मिथुन, विष्णु और यज्ञ ये सब घट बढ़ रूप में एक ही भाव के द्योतक हैं। इस कारण कई विद्वान् कृष्ण-गोपी लीला का रहस्य सृष्ट्यन्तर्गत प्राजापत्य यज्ञ में देखते हैं। औपमन्य व आचार्य निरुक्त में विष्णु के शिपिविष्ट नाम को जो कुत्सितार्थ में मानता है उसका इसी प्राजापत्य धर्म की ओर संकेत प्रतीत होता है। ऊपर हम यह देख चुके हैं कि अग्नि और सोम की सन्धि विष्णु है। अतः वैष्णव यज्ञ का एक पार्श्व अग्नि है तो दूसरा सोम है। दोनों के मेल से विष्णु का पूर्ण रूप बनता है। जब अग्निसोमात्मक यज्ञ में सोम को महत्व दिया तो सोम के विष्णुत्व के उद्गार निकले और जब अग्नि को महत्व दिया तब अग्नि को विष्णु नाम से सम्बोधित किया। वस्तुतः यह ऊर्ध्वारोहण केवल सोम व अग्नि का ही नहीं है अपितु शरीर के सभी देवों का है। सभी देव वैष्णव[1] रूप धारण करके ऊर्ध्वारोहण करते हैं। इससे यह कहा जा सकता है कि विष्णु वह विशिष्ट शक्ति है जो कि

---

१ एतद्वै देवा विष्णुर्भूत्वा इमांल्लोकानाक्रमन्त ।
श. प. ६।७।२।१०

सोम आदि सकल देवों के ऊर्ध्वारोहण में कारण बनती है। जो विष्णु के क्षेत्र में आ जाता है वह ऊर्ध्वारोहण करने लगता है। इसी प्रकार शरीर में अग्निसोमात्मक तत्व ऊर्ध्वगति व ऊर्ध्वारोहण करने लगते हैं। जब दिव्यत्व की ओर ये प्रयाण करते हैं तभी ये विष्णु के क्षेत्र में जा पहुंचते हैं। इस प्रकार संक्षेप मे हमने विष्णु के स्वरूप पर प्रकाश डाला और विशेष कर पिण्ड में विष्णु पर विचार किया।

विष्णु-क्रमण

विष्णु क्रमण एक पारिभाषिक शब्द है। ब्रह्माण्ड व पिण्ड में शाश्वत रूप में होने वाले वैष्णव यज्ञ के अनुरूप बाह्य कर्म काण्ड मे वर्णित वैष्णव यज्ञ को करने वाला यजमान विष्णु[1]पद की बुद्धि से भूमि पर जो पाद-प्रक्षेप करता है, उसे भी विष्णु क्रमण कहते हैं।

यह क्रमण केवल विष्णु का ही नहीं है अपितु

---

१ विष्णुपादबुद्ध्या स्वपादस्य भूमौ प्रक्षेपा :
विष्णुक्रमाः

सभी देवों का है। जो देव क्रमण करता है वही विष्णु का रूप धारण कर लेता है। यह हम शतपथ ब्राह्मण ६।७।२।१० के उद्धरण द्वारा पूर्व मे प्रदर्शित कर चुके है। इस भांति वैष्णव यज्ञ करने वाले यजमान को भी विष्णु का ही रूप धारण करके क्रमण करना होता है। इस सम्बन्ध में हम कात्यायन श्रौतसूत्र का वह प्रकरण तथा उस पर विद्याधर शर्मा की वृत्ति प्रस्तुत करते हैं। सूत्र है–

विष्णुक्रमान् क्रमते विष्णोरिति।

(१२५)

प्रतिमन्त्रमग्न्युद्ग्रभणं च तस्मिन्।

का० श्रौ० १६।५।११

अर्थात प्रारम्भ मे विष्णु-क्रम संज्ञक पादविन्यास करे। प्रत्येक क्रमण मे उख्याग्नि को ऊर्ध्व मे उठाता जाए। वह इस प्रकार कि सर्व प्रथम दक्षिण पैर से क्रमण कर अग्नि को नाभि देश से कुछ थोड़ा ऊर्ध्व मे ले जाये। इसी प्रकार द्वितीय व तृतीय बार भी पाद-विन्यास कर अग्नि का ऊर्ध्वीकरण करता जाए। चतुर्थ बार अग्नि का

उद्ग्रहण कर दिशाओं का अनुवीक्षण तो करे पर पाद-विन्यास न करे। इसी लिए कहा है—

अक्रमश्चतुर्थे। दिशोऽनुवीक्षते ॥
का० श्रौ० १६।५।१२

यह संक्षेप में विष्णु-क्रमण है। विष्णुक्रमण में विष्णु की त्रिपदी प्रमुख है। जिसमें कि वह तीन पदों द्वारा तीनों लोकों को माप लेता है। यह विष्णु का ऊर्ध्वक्रमण कहलाता है। विष्णु के अन्य क्रमण भी हैं। नीचे की ओर के क्रमण को अर्वाङ्-क्रमण, प्रत्यवरोहण आदि शब्दों से कहा गया है। अथर्व. १०।५।५ सूक्त में अन्य क्रमणों की ओर संकेत हुआ है। अब हम सर्वप्रथम विष्णु की त्रिपदी अर्थात् ऊर्ध्व क्रमण को दर्शाते हैं।

विष्णु की त्रिपदी प्राचीन आचार्यों की दृष्टि में

विष्णु त्रिविक्रम कहा जाता है अर्थात् विष्णु की ऊर्ध्वगति के तीन पाद-प्रक्षेप होते हैं। ऋचा में आता है—

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।

समूढमस्य पांसुरे ॥

ऋ १।२२।१७

विष्णु ने क्रमण किया और तीन पद रक्खे। इस विष्णु पद की धूलि में समग्र ब्रह्माण्ड सम्यक् प्रकार से वहन हुआ हुआ है।

ब्रह्माण्ड में ये रज रेणु विष्णु पद की धूलि है। अध्यात्म क्षेत्र में रक्ताणुओं में सम्मिलित सर्व शरीर-व्यापी ये सोमांशु ही विष्णु-पद की धूलि (पांसु) प्रतीत होते है। जहां वीर्यात्मक विष्णु का रूप जा पहुंचता है, जहां-जहां उस का पद पड़ता है, वहां-वहां सजीवता[१] सक्रियता तथा चेतनता उद्‌बुद्ध हो जाती है और पिण्ड स्थिर व अनुप्राणित रहता है। पिण्ड मे तत्तत्स्थान के के जो धर्म है उन्हें वह विष्णुपद धारण करता है। इसी दृष्टि से मन्त्र में कहा है कि "अतो धर्माणि धारयन्" अर्थात् यह विष्णु शरीर के विभिन्न धर्मो को धारण किए हुए है। विष्णु

---

१. य. पार्थिवानि त्रिभिरिद् विगामभिरुरुक्रमिष्टो-रुगायाय जीवसे। ऋ १।१५५।४

के इन तीन पदों१ मे समग्र भुवन समाविष्ट है। कोई स्थान ऐसा अवशिष्ट नहीं रहता जहां विष्णु का पद न पहुचा हो, क्योंकि जहा दो परमाणुओं का संयोग हुआ वहीं यज्ञ प्रारम्भ हो गया। यह यह यज्ञ ही विष्णु है। वेद मे विष्णु के इन तीनों पदों को अक्षीण२ बताया गया है अर्थात् इन मे क्षीणता व विनाश आदि नहीं है। शरीर के क्षेत्र में भी तीन पदों से स्थूल शरीर का कोई सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि स्थूल शरीर क्षीण होने वाला है। शैशव, यौवन व वृद्धत्व आदि शरीर के धर्म हैं, अतः इनका यहां ग्रहण न करके स्थूल शरीर के आश्रय से रहने वाली वैष्णव शक्ति का यहां ग्रहण करना चाहिए और ये तीनों पद मधु से परिपूर्ण हैं (पूर्णा मधुना पदानि) इनमें माधुर्य है। स्थूल शरीर के धर्मों मे माधुर्य नहीं होता, अतः हमे यह स्वीकार करना चाहिये कि ये चेतना के पग है।

---

१. यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा। ऋ. १।१५४।२

२ यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्यक्षीयमाणा०। ऋ. १।१५४।४

उच्च विज्ञान के पग हैं। ज्ञानोपलब्धि में सदा आनन्द ही रहता है वहां दुःख व विषाद का नामो निशान नहीं होता। साधारण मरण-धर्मा मनुष्य विष्णु के दो१ पद ही धारण कर सकता है, क्योंकि तृतीय पद उसकी पहुंच से बाहिर है, उस तृतीय पद का कोई मनुष्य घर्षण नहीं कर सकता। यह तृतीय पद विष्णु का अपना धाम है। यह परम पद दिव्य ज्योति से सदा देदीप्यमान२ रहता है। विष्णु के इस परम पद में मधु से परिपूर्ण एक 'उत्स'३ अर्थात् स्रोत है, फव्वारा है जहां देवगण मधु का पान किया करते हैं। यह परमपद मनुष्य के अपने अन्दर भी है, जिसको कि सदा जागरूक४ रहने वाले विप्र लोग समिद्ध व प्रदीप्त करते हैं अर्थात्

---

१ द्वे इदस्य क्रमणे स्वर्दृशोऽभिख्याय मर्त्यो भुरण्यति। तृतीयमस्य नकिरादधर्षति।

ऋ. १।१५५।५

२ परम पदमवभाति भूरि। ऋ. १।१५४।६

३. विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः। ऋ १।१५४।५

४. तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते। विष्णोर्यत्परम पदम्। ऋ. १।२२।२१

अपनी आंतरिक दिव्य दृष्टि से सूर्य के समान प्रदीप्त इस परम पद को देखा करते हैं। यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि "दिवि आततं चक्षुरिव" द्युलोकस्थ चक्षु अर्थात् सूर्य की तरह अभिव्याप्त यह विष्णु पद है और सूरि लोग ही इसे देख पाते हैं, इससे यह सिद्ध है कि इस मन्त्र में विष्णु के परम पद से भौतिक सूर्य का ग्रहण नहीं करना है, यह कोई अलौकिक तेज है जो कि चर्मचक्षुओं से देखा नहीं जा सकता। जिसे कि सूरि लोग ही अपनी अन्तर्दृष्टि से देख पाते हैं। फिर भी कई विचारक इस भौतिक सूर्य को विष्णु का परम पद मानते हैं। हम इसे विष्णु का प्रत्यक्षीभूत परम पद कह सकते हैं। स्वामी दयानन्द ने यह परम पद अत्युत्तम मोक्षपद माना है और एक स्थल पर विष्णु के इस तृतीय पद को "उत्तरं सधस्थं" माना है। उन्होंने लिखा है कि "प्रलयादनन्तरं कारणाख्यं सहस्थानम्" अर्थात् प्रलय के अनन्तर सृष्टि के कारणभूत देवों को एक स्थान पर धारण करने वाला यह परम पद है। दशपुराण-लक्षण में विष्णु के परम पद का स्वरूप निम्न श्लोकों में अभिव्यक्त किया गया है—

प्रधानपुरुषव्यक्तकालानां परमं हि यत्,
पश्यन्ति सूरयः शुद्धं तद्विष्णोः परमं पदम्।
प्रधानपुरुषव्यक्तकालास्तु प्रविभागशः,
रूपाणि स्थितिसर्गान्तव्यक्तिसद्भावहेतवः ।।

शतपथ ब्राह्मण—१।६।३।१० में तृतीय पद की समाप्ति पर कहा है—

"एवमिमांल्लोकान् समारुह्यार्थैषा गतिरेषा प्रतिष्ठा य एष तपति तस्य ये रश्मयस्ते सुकृतोऽथ यत्परं भाः प्रजापतिर्वा स स्वर्गो वा लोकः।"

अर्थात् तीन क्रमणों द्वारा इन लोकों पर आरोहण कर यह सोचे कि जो यह आदित्य दृष्टि-गोचर हो रहा है यही गति है, यही प्रतिष्ठा है। आदित्य की ये रश्मियां सुकृत रूप वाली हैं। और जो यह उत्कृष्ट व परम दीप्ति है, वही यह प्रजापति है यही स्वर्गलोक है। बाह्य आदित्य के समान शरीर में यह स्थान मस्तिष्क है। एक मन्त्र में उस परमपद की उपलब्धि की कामना दर्शायी गई है और उसको जो पहचान दर्शायी है, वह इस प्रकार है-

"जहां निरन्तर गतिशील, नाना शृंगों वाली गौए हैं, उस स्वर्लोक मे विष्णु का देदीप्यमान तृतीय पद है।" ऋ. १।१५४।६

त्रिष्णु की विभिन्न त्रिपदियां

प्राचीन आचार्यो ने विष्णु की त्रिपदी के स्वरूप-निर्धारण का प्रयत्न किया है। इसमे कई मत दृष्टिगोचर होते हैं। षड्गुरुशिष्य ने ऐतरेय ब्राह्मण के अपने भाष्य मे उनका सग्रह किया है जो कि निम्न प्रकार है—

१. पदत्रयं सोऽथ बलि ययाचे वह्नि रेकं समि-
दर्थं तथैकम् ममाप्येकमिति स स्माह।
विष्णु ने बलि से तीन पद की याचना की, उनमे एक पद वह्नि का, दूसरा समिधा के लिये और तीसरा अपने लिए।

२. पाणौ तोये पतिते वामनोऽथ
भूत्वा महान् व्यक्रमताखिलं सः।
स पाताला पादमाद्यं धरित्री
द्वितीयं वै ख तृतीयं स्वरादि।
त्रिपदी के दान के समय जो जल उसके हाथ

पर पड़ा उससे वह वामन महान् बना। और उसने विक्रमण किया। पाताल सहित पृथिवी प्रथम पद, द्वितीय पद आकाश और तृतीय पद स्वर्लोक आदि हुए।

३. ततो विष्णुर्व्यक्रमत त्रिरेव लोकान् वेदान् वाङ्मयं त्रिपद्या। सर्वे लोकाः पदमाद्यं द्वितीयं सर्वे वेदाः वाङ्मयं वै तृतीयम्।

त्रिपदी से विष्णु ने तीन लोक, वेद और वाङ्मय का क्रमण किया। प्रथम पद में सब लोक हैं। द्वितीय पद में सब वेद और तृतीय पद में वाङ्मय है।

४. शतपथ ६।७।२।१०-१६ में अग्नि के आरोहण का विष्णु की त्रिपदी रूप में वर्णन हुआ है।

५. मैत्रायणी संहिता में विष्णु के पाद-प्रक्षेप एक और दृष्टि से गिनाए हैं। यथा—

यदोदनपचनेऽधिश्रित्याथ गार्हपत्येऽथ आहवनीयेऽधिश्रयत्येतद् वाव तत् त्रि-

विष्णुर्विक्रमते।

मै. सं. ४।१।१२

अर्थात् अन्न का ओदनपचन, गार्हपत्य तथा आहवनीय में क्रमशः परिपाक होना विष्णु का क्रमण है।

निरुक्त में त्रिपदी

(१२ अ १६ खं. ११)

विष्णु की त्रिपदी के सम्बन्ध में जो विभिन्न विचार शास्त्रों में दृष्टिगोचर होते हैं उनमें से कुछ का दिग्दर्शन निरुक्त में भी होता है।

आचार्य शाकपूणि का मत है कि विष्णु का ऊर्ध्वक्रमण पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्युलोक में होता है। यह वैष्णव ज्योति एक है पर वह पृथिवी पर अग्नि रूप में, अन्तरिक्ष पर विद्युत् रूप में तथा द्युलोक पर आदित्य रूप में आविर्भूत होती है।

दूसरा मत आचार्य और्णवाभ का है। उनके मत में यह आदित्य ही विष्णु है। इस आदित्य रूपी विष्णु का प्रथम चरण प्रातः उदयगिरि पर पड़ता है, द्वितीय चरण मध्याह्न के समय द्युलोक

के मध्य में तथा तृतीय चरण सायंकाल अस्ताचल पर पड़ता है। इस प्रकार नैरुक्त सम्प्रदाय का यह और्णवाभ आचार्य सूर्य को विष्णु मानता है। कई आधुनिक पाश्चात्य व पौरस्त्य विद्वान् भी इन्हीं दो मतों में बंटे हुए हैं। व्हिटनी, मैक्समूलर, के एगी, डूसेन आदि विद्वान् और्णवाभ आचार्य के मत के पोषक हैं और इसके विपरीत मैक्डोनल आदि विद्वान् शाकपूणि आचार्य से सहमत हैं। इसी भांति तिलक महाराज का भी अपना पृथक् मत है।

हमारे विचार में सूर्य पूर्ण विष्णु नहीं है, यह विष्णु के एक अंश का द्योतक है। वैष्णव प्रक्रिया का इस सूर्य में भी दर्शन होता है। वह विष्णु सूर्य का निर्माण करता है। (ऋ. ७।९९।४) सूर्य के विष्णु रूप पर हम पूर्व में भी अपने विचार अभिव्यक्त कर चुके हैं।

इस प्रकार त्रिपदी के सम्बन्ध में प्राचीन आचार्यों के जो भिन्न-भिन्न मत हैं वे हमने उदाहरण के तौर पर सक्षेप में ही प्रदर्शित किये हैं। इनका रहस्य क्या है यह भी हम यथामति सक्षेप में प्रदर्शित करते हैं।

१. १म पद = वह्नि
२य पद = समिधा
३य पद = विष्णु

शरीर के क्षेत्र मे इसका तात्पर्य यह है कि विद्यार्थी का सर्व प्रथम पग शरीरस्थ-उदर, हृदय तथा मस्तिष्क की अग्नियों को सम्यक् प्रकार से समिद्ध व प्रदीप्त करना है। इससे शरीर को सब शक्तियों का शरीर में निवास होता है। यह वसु ब्रह्मचारी का रूप है।

द्वितीय पग समिधाओं के लिये है। समिधाओं से मनुष्य के प्राण व इन्द्रियां आदि सूक्ष्म शरीर का ग्रहण हो सकता है। कहा भी है—

अयन्त इध्म आत्मा०, प्राणा वै समिधः।
ऐ ब्रा २।४ श प. १।५।४।१

अतः विष्णु का द्वितीय पग सूक्ष्म शरीर सम्बन्धी है।

तृतीय पग विष्णु के अपने लिये है। यह सूक्ष्म चेतना अर्थात् ज्ञान विज्ञान का ब्रह्माण्ड-व्यापी पग है। इसमें मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियां व बुद्धि आदि विश्व मे व्यापक बन जाती हैं। यह विष्णु का

व्यापक भाव है जो कि विष्णुत्व (विष्लृ व्याप्तौ) को चरितार्थ करता है।

२ द्वितीय मत में तीन लोक तीन पद हैं। यह विष्णु का ऊर्ध्वारोहण का क्षेत्र है। शास्त्रों में आता है कि--

त्रीन् प्रक्रमान् प्रतिविक्रमते
त्रयो वा इमे लोकाः ।
श. प. १ ६ ३।६ मै.स ३।८।७

३ तृतीय मत में १म पग=समग्र लोक, २य पग=वेद, ३य पग=वाङ्मय। इन तीन पदों की आध्यात्मिक क्षेत्र में व्याख्या यह हो सकती है कि प्रथम पद से शरीर सम्बन्धी उदर हृदय व मस्तिष्क अथवा शरीर व प्राण व मन बुद्धि आदि लोकों को स्वस्थ, सुन्दर बनाना व उनका ज्ञान प्राप्त करना, द्वितीय पद से सब वेदों का ज्ञान प्राप्त करना और तृतीय पद से वाङ्मय मात्र का ज्ञान प्राप्त करना।

४,५. चतुर्थ और पञ्चम मत शरीर में ऊर्ध्वारोहण से सम्बन्ध रखते हैं। अग्नि का ऊर्ध्वारोहण तथा अग्नि में परिपक्व हुए अन्न का ऊर्ध्वारोहण

यहां दर्शाया गया है। अन्न का ओदन पचन गार्ह-पत्य तथा आहवनीय में परिपक्व होना, क्रमशः उदर, हृदय तथा मस्तिष्क अग्नियों में परिपक्व होना है।

विष्णु द्वारा इन तीनों लोकों का उत्क्रमण यजुर्वेद व तत्सम्बन्धी शाखा संहिताओं तथा शत-पथ ब्राह्मण में कुछ विस्तार से व ब्योरेवार दे रक्खा है। स्वल्पमात्र के वर्णन भेद से प्रायः सब शास्त्रों के वर्णनों में साम्यता है। उदाहरणार्थ अब हम यजुर्वेद १२।५ मन्त्र को यहां विस्तार से दिखाते हैं।

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा गायत्रं छन्द आरोह पृथिवीमनु विक्रमस्व विष्णोः क्रमोऽस्यभिमातिहा त्रैष्टुभं छन्द आरोह अन्तरिक्षमनु विक्रमस्व विष्णोः क्रमोऽस्यरातीयतो हन्ता जागतं छन्द आरोह दिवमनु विक्रमस्व विष्णोः क्रमोऽसि शत्रूयतो हन्ताऽनुष्टुभं छन्द आरोह दिशोऽनु विक्रमस्व।

सपत्न रूप शत्रुओं का हनन करने वाला तू विष्णु का क्रमण है। गायत्री छन्द पर आरोहण

कर और पृथिवी पर क्रमण कर। अभिमाती रूप शत्रुओं का हनन करने वाला तू विष्णु का क्रमण है। त्रैष्टुभ छन्द पर आरोहण कर और अन्तरिक्ष में क्रमण कर। अराति रूप शत्रुओं का हनन करने वाला तू विष्णु का क्रमण है। जगती छन्द पर आरोहण कर और द्युलोक में विक्रमण कर। शत्रु रूप में आचरण करने वालों का तू हनन करने वाला है, अनुष्टुभ छन्द पर आरूढ हो और दिशाओं में क्रमण कर।

प्रमुख रूप से प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित विष्णु की त्रिपदी का संक्षिप्त भाव हमने ऊपर प्रदर्शित किया। अब हम दूसरे शब्दों में विष्णु की इस त्रिपदी तथा उसके अन्य प्रकार के विक्रमण को कुछ विस्तार से स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। सर्व प्रथम हम विष्णु के विक्रमण तद् द्वारा शत्रु-हनन आदि को तालिका में इस प्रकार दिखा सकते हैं।

त्रि-विक्रम

पद	लोक	शरीर	छन्द	शत्रु
१म	पृथिवी	प्राण	गायत्री	सपत्न
२य	अन्तरिक्ष	मन	त्रिष्टुप्	अभिमाति

३य द्युलोक विज्ञान जगती अराति

उपर्युक्त तालिका में विष्णु के त्रिलोकी विक्रमण का चित्र प्रस्तुत किया गया है। इस विक्रमण से पूर्व प्रत्येक लोक पर शत्रुओं का साम्राज्य था। विष्णु के विक्रमण का परिणाम यह हुआ कि तत्तल्लोक मे शत्रुओं का हनन हो गया। तै. सं. १।६।५।१२ के आधार पर इन शत्रुओं के क्रम में तालिका में प्रदर्शित क्रम से कुछ भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। इससे यह विचारणीय हो जाता है कि प्रत्येक लोक के शत्रुओं में पारस्परिक कुछ भिन्नता है कि नहीं? और उनका उस उस लोक से क्या सम्बन्ध है? इत्यादि अनेको प्रासगिक विषय आ उपस्थित होते हैं जिनका समाधान होना आवश्यक है। विष्णु का ऊर्ध्व में ही क्रमण नहीं है अर्वाङ्क्रमण भी है, अन्य दिशाओं मे भी क्रमण है। यह हम आगे स्पष्ट करने का प्रयत्न करेगे। सर्वप्रथम हम त्रिलोकी के विक्रमण को दिखाते है।

पार्थिव-विक्रमण

पार्थिव-विक्रमण के सम्बन्ध में शतपथ ब्राह्मण में निम्न वाक्य आता है—

तदु तत् पृथिव्यां विष्णुर्व्यक्रंस्त गायत्रेण छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्म ।

श प. १।९।३।१०

अर्थात् विष्णु ने पृथिवी पर गायत्र छन्द द्वारा विक्रमण किया । इसका परिणाम यह हुआ कि पृथिवी पर से उन शत्रुओं को निकाल बाहिर किया गया जो हमसे द्वेष करते हैं और जिनसे हम द्वेष करते हैं । विष्णु क्रमण सम्बन्धी यही भाव निम्न स्थलों पर भी अभिव्यक्त हुआ है । यजु. १२।५, तै. सं. ४।२।१।१, मै. सं २।७।८, काठ १६।८६ श.प ६।७।२।१३

छन्दों द्वारा विष्णु-विक्रमण व लोक विजय

विष्णु का ऊर्ध्व में स्थित लोकों तथा अन्य दिशाओं आदि मे विजय व विक्रमण छन्दों द्वारा होता है । तै. सं. १।७।५।४ मे आता है कि--

विष्णुमुखा वै देवाश्छन्दोभिरिमांल्लोकान-नपजय्यमभ्यजयन् यद् विष्णुक्रमान् क्रमते

विष्णुरेव भूत्वा यजमानश्छन्दोभिरिमां-
ल्लोकाननपजय्यमभिजयति ।

विष्णुप्रमुख देवों ने अथवा विष्णु रूप को धारण कर देवों ने इन अजेय लोकों का छन्दों द्वारा विजय किया । इसी प्रकार यजमान भी इन लोकों को छन्दों द्वारा जीत सकता है ।

छन्दों द्वारा जब इन लोकों पर विजय प्राप्त करनी है तो आवश्यकता इस बात की है कि इन छन्दों का स्वरूप और शरीर में इनका स्थान निर्धारित किया जाये । अतः इनका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है ।

छन्द का शरीर में स्थान

विष्णु की इस त्रिपदी में उपर्युक्त तीन छन्दों अर्थात् गायत्री त्रिष्टुभ् और जगती पर विशेष विचार की आवश्यकता है । १छन्द (छादनात्)

---

१ छन्दांसि छन्दयतीति वा । दै. ब्रा. ३।१९
ते (देवाः) छन्दोभिरात्मानं छादयित्वोपायन्
तच्छन्दसां छन्दस्त्वम् । तै. सं. ५।६।४।१

आच्छादन करने के कारण मर्यादा, वस्तु की परिधि, सीमा, आवरण शक्ति व वातावरण आदि कई नामों से संबोधित किया जा सकता है। शरीर में इन तीनों छन्दों की अपनी-अपनी मर्यादा व अपना-अपना विशिष्ट स्थान है।

यदि शरीर में इन तीनों छन्दों का विशिष्ट स्थान व उनके अपने कार्य निर्धारित हो जाएं तो विष्णु की त्रिपदों का स्वरूप स्पष्टीकरण सुगम हो जाए।

शास्त्रों में गायत्री का उत्पत्तिस्थल मुख१ माना है। परन्तु इसका प्रमुख प्रभाव क्षेत्र नाभि से नीचे जानु२ तक है। इसका तात्पर्य यह हुआ

स छन्दोभिश्छन्नो यच्छन्दोभिश्छन्नस्तस्माच्छ-न्दासीत्याचक्षते छादयन्ति ह वा एनं छन्दांसि।

१. गायतो मुखादुदपतत्। दै ब्रा. ३।३, मुखमेव गायत्री। कौ ब्रा ११।२ मुखं गायत्री। ता ब्रा. ७।३।७, १४।५ २८, त्रायन्ती गायतः सर्वान् गायत्रीत्यभिधीयते।

अहि बु स ३।१६

२ जानुदघ्नं चिन्वीत प्रथमं चिन्वानो गायत्रियै-वेमं लोकमभ्यारोहति नाभिदघ्नं चिन्वीत

कि मुख से उत्पन्न हो कर यह गायत्री नीचे की ओर अवतरण कर नाभि से नीचे जानु तक के अङ्गों को अपना प्रभाव क्षेत्र बनाती है। आगे त्रिष्टुप् का प्रभाव क्षेत्र ग्रीवा से लेकर नाभि तक है और जगती का सिर से लेकर ग्रीवा तक है। गायत्री का उपधान१ व स्थिति-स्थान शरीर मे आगे की ओर है। त्रिष्टुप् का दक्षिण पार्श्व से होकर शरीर के मध्यभाग में तथा जगती का पीठ की ओर सिर से लेकर नीचे सुषुम्णा काण्ड तक चला गया है परन्तु इस सम्बन्ध में स्मरण रखना

द्वितीय चिन्वानस्त्रिष्टुभैवान्तरिक्षमभ्यारोहति ग्रीवदघ्न चिन्वीत तृतीयं चिन्वानो जगत्यैवामुं लोकमभ्यारोहति। तै स ५।६।८

१ गायत्री पुरस्तादुपदधाति त्रिष्टुभ दक्षिणतो जगती पश्चात्। तै स ५।७।६
प्राच्यास्त्वा दिशा सादयामि गायत्रेण छन्दसा—दक्षिणया त्वा दिशा सादयामि त्रैष्टुभेन छन्दसा—प्रतीच्यात्वा दिशा सादयामि जागतेन छन्दसा। तै स ५।५।८,
श प ८।३।१।१२

चाहिये कि छन्द वहीं है जहां कि यज्ञ हो रहा है बिना यज्ञ के छन्द नहीं रह सकता। इसी तथ्य को शास्त्रों में सविता और सावित्री मान कर स्पष्ट किया है। इस लिए शरीर मे जहां-जहां यज्ञ हो रहे हैं वहीं-वहीं छन्द की स्थिति है। प्रसग से यहां यह भी सकेत कर देना अनुपयुक्त न होगा कि छन्दोबद्ध वेद-यज्ञ परक हैं (सैषात्रयी विद्या यज्ञः श १।१।४।३) इस प्रकार त्रिपदी मे सहायक तीन छन्दों का शरीर मे विशिष्ट स्थान क्या हो सकता है यह हमने देखा।

अब हम कुछ विस्तार से इन छन्दों पर विचार करते हैं—

गायत्र छन्द

गायत्र१ छन्द गायत्री को कहते हैं और यह एक साम का नाम भी है। यहां हमें गायत्री छन्द और गायत्र साम दोनों का ग्रहण करना चाहिये। वस्तुत छन्द साममय अर्थात् प्राणमय ही हैं।

---

१ गायत्र छन्दसम्। यजु ८। ४७
गायत्रीरन्वाह गायत्र वा अग्नेश्छन्द ।
श. प १।३ ५।४

गायत्री निम्न पदार्थों की वाचक है—

पृथिवी,१ स्थूल शरीर, उदर, अग्नि, ब्राह्मण, ब्रह्मतेज, वसु, वीर्य, प्राण, मुख, रथन्तर, प्रातः सवन, श्येन आदि। ये सब गायत्री से गृहीत होते हैं। हम यहा अध्यात्म क्षेत्र में गायत्री का कुछ विवेचन करते हैं।

अध्यात्म क्षेत्र मे गायत्री की उत्पत्ति उससमय

---

१ या वै सा गायत्र्यासीदियं वै सा पृथिवी।
श. प १।४।१।३४
अग्निर्वै गायत्री। श. प ३।४।१।१९,
गायत्रो वै ब्राह्मणः। ऐ ब्रा १।२८
तेजो वै ब्रह्मवर्चसं गायत्री। ऐ ब्रा १।५,२८,
वसवो गायत्रीं समभरन्। जै उ १।१८।४
वीर्यं गायत्री। श. प. १।३।५।४,
प्राणो वै गायत्र्य.। कौ. १५।२, श प. ६।४।२।५
मुखं गायत्री। तां. ७।३।७
गायत्रं वै रथन्तरम्। तां ब्रा. ५।१।१५
गायत्रं वै प्रात. सवनम्। ऐ.ब्रा ६।२, ता.ब्रां. ६।३।११, यद् गायत्री श्येनो भूत्वा दिव सोममाहरत् तेन सा श्येन। श प ३।४।१।१२

होती है जब मनुष्य भगवान् व अपने अभीष्ट देव की भक्ति में स्तुति गान करता है। इसी लिए दैवत ब्राह्मण में गायत्री की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कहा है कि—

गायते स्तुति कर्मणः गायतो मुखादुदपतत्।
दै. ब्रा. ३।२, ३

अर्थात् गायत्री की उत्पत्ति मुख से होती है और यह एक स्तुति व गान का वातावरण है जिसका प्रभाव शरीर के नीचे के अङ्गों पर विशेष रूप मे होता है। जिस समय मनुष्य भक्ति में स्तुति गान करता है तो उसमें परिवर्तन होने शुरू हो जाते हैं। प्रथम परिवर्तन यह होता है कि स्तुति गान के समय सब प्रकार की वासनाएं व कामनाएं शान्त हो जाती हैं। ये वासनाएं व कामनाएं वैदिक भाषा में रथ कहलाती हैं। शरीर पर से इनका उतर जाना अर्थात् शान्त हो जाना रथन्तर साम कहलाता है। इसीलिये गायत्री को रथन्तर भी कहा है। अथवा यह भी कह सकते हैं कि भगवान् की भक्ति से मनुष्य में एक प्रकार का प्राण पैदा हो जाता है जिसे कि वैदिक भाषा में रथन्तर

कहा जाता है। यह रथन्तर प्राण अशनया रूपी रथ को जो कि मनुष्यों को भगाये फिरती है, उतार फेंकने वाला होता है क्योंकि गायत्री रथन्तर प्राण की उत्पत्ति में कारण बनती है। अतः गायत्री को रथन्तर की योनि माना है।

गायत्री वै रथन्तरस्य योनिः।

ता ब्रा. १५।१०।५

दूसरा परिवर्तन यह होता है कि सोम (वीर्य) का ऊर्ध्वारोहण होने लगता है। इस ऊर्ध्वारोहण के दो प्रभाव होते हैं एक यह कि यह सोम श्येन बन कर द्युलोकस्थ सोमाहरण के लिये उड़ान भरता है। क्योंकि गायत्री इस उड़ान में सहायक होती है। अतः यह भी कह सकते हैं कि गायत्री स्वय श्येन बन कर उड़ान करती है। दूसरा प्रभाव यह होता है कि उदरस्थ अग्नि प्रदीप्त हो अन्नादि का सुचारु रूप से परिपाक करने लगती है। इस से शरीरगत समग्र शक्तियां परिपुष्ट होती है। स्थूल शरीर में लावण्य पैदा होता है। मुख पर एक विशिष्ट प्रकार का आभा मण्डल आविर्भूत होता है। क्योंकि गायत्री मुख है और वह ज्योति

रूप भी है। अंग गात्र (गायन्तीवांगानि) बन जाते हैं मानो वे गान कर रहे हैं। गायत्री इन्द्रियों में तेज को धारण कराती है। कपि सं ३०।२ में आता है—

तेजो वै गायत्री इन्द्रियं त्रिष्टुप्तेजश्चैवा-
स्मिन्निन्द्रियं च समीची दधाति ।

अर्थात् गायत्री तेज है और त्रिष्टुप् इन्द्रियां हैं। गायत्री और त्रिष्टुप् को मिलाना इन्द्रियों में तेज धारण कराना है। इस प्रकार मुख से लेकर शरीर के अग्रभाग के उदर, उपस्थ, शिश्न, जानु आदि अंग गायत्री के प्रभाव क्षेत्र में आ जाते हैं। तथा अन्य आन्तरिक अवयवों में भी तेज का सञ्चय होने लगता है। इन उपर्युक्त अंगों में शक्ति सञ्चय होकर दिव्यता का प्रादुर्भाव होना विष्णु का प्रथम पग है। गायत्री आदि छन्दों पर विचार करते हुए हमें यहां इस बात का अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि इन गायत्री आदि छन्दों व दैवी शक्तियां आदि की कोई स्थूलाकृति, व शरीर में स्वरूप से स्थिति नहीं होती है। इनकी प्रतीति कार्य से होती है। स्थूल शरीर पर इनका प्रभाव

लक्षित होता है इसी तथ्य को अहिर्बुध्न्य संहिता (३।२,३,४) में निम्न शब्दों में अभिव्यक्त किया है–

शक्तयः सर्वभाव नामचिन्त्या अपृथक्स्थिताः।
स्वरूपे नैव दृश्यन्ते दृश्यन्ते कार्यतस्तु ताः।
सर्वैरननुयोज्या हि शक्तयो भावगोचराः।

अर्थात् सर्व भावों की शक्तियां अचिन्तनीय है, उनकी शरीर में पृथक्-पृथक् स्थिति नहीं है। स्वरूप से उनका दर्शन नहीं होता अपितु कार्य अर्थात् शरीर पर प्रभाव दृष्टिगोचर होने से उनकी प्रतीति होती है। ये शक्तियां भावगोचर हैं और सर्वसाधारण की पहुंच से बाहिर हैं।

गायत्री और वसु

गो उ. २।९ मे आता है कि "गायत्री वसूनां पत्नी" अर्थात् गायत्री वसुओं की पत्नी है। इस का भाव यह है कि वसु ब्रह्मचारी गायत्री के प्रभाव से जब वीर्य का ऊर्ध्वारोहण करते हैं तो उदरस्थ अग्नि प्रवृद्ध हो अन्न का परिपाक कर रस रक्त आदि धातुओं की उत्पत्ति व वृद्धि करती है। इससे शरीर की समग्र शक्तियों का ह्रास

न होकर वृद्धि होती है। उन शक्तियों का शरीर में निवास व विकास होता है। शरीर में शक्तियों के वास के कारण यह वसु ब्रह्मचारी का रूप है। जै. उ. ब्रा. १।१८।४ में गायत्री और वसु ब्रह्मचारी के सम्बन्ध को एक और रूप में प्रदर्शित किया है। वहां आता है कि—

'वसवो गायत्रीं समभरन् तां ते
प्राविशन् तान् साऽच्छादयत्।'

अर्थात् वसु नामक ब्रह्मचारी गायत्री का सम्भरण करते हैं, वे इस गायत्री में प्रवेश करते हैं और गायत्री उनको चहुं ओर से आच्छादित कर लेती है। इसका भाव यह है कि वसु ब्रह्मचारी के चहुं ओर गायत्री का वातावरण बना रहता है। गायत्री का ब्रह्मवर्चस तेज शरीर के चारों ओर से फूट निकलता है। इस ब्रह्मवर्चस तेज से वे वसु आप्लावित रहते हैं। वैसे तो गायत्री सब छन्दों को आवृत किये हुए है फिर भी शरीर के अधोभाग और मुख ये दो अङ्ग इस गायत्री के प्रमुख केन्द्र हैं। वाक् द्वारा विद्याध्ययन तथा वीर्य आदि

का ऊर्ध्वारोहण ये दो कार्य वसुओं के प्रमुख हैं। इन दोनों प्रकार के कार्यों का सुसम्पादन भगवान की भक्ति मे स्तोत्र गान से होता है। वेद में आता है--

गायन्ति त्वा गायत्रिणः।

ऋ १।१०।१

अर्थात् गायत्री का आश्रय लेने वाले लोग उस भगवान् का गान करते हैं। एक प्रकार से गायत्री का केन्द्रीय भाव गान में है। यह भक्ति गान उस गायत्री का आदि व प्रारम्भिक रूप भी है। भागवत धर्म का वैदिक आधार व स्रोत यही गायत्री है। विष्णु का प्रारम्भिक पग होने से वैष्णव-धर्म की शुरुआत है।

गायत्री-प्रातः सवन

भगवान् की भक्ति में स्तोत्रगान करना तथा विद्याध्ययन करना, उन्नति की प्रथम सोपान है। आत्मिक रस का यह प्रारम्भिक निचोड़ है। अन्य छन्दों को समिद्ध व प्रदीप्त करने के लिये सर्व प्रथम गायत्री को समिद्ध करना पड़ता है। यदि

ब्रह्मचर्य काल में हम बच्चे में गायत्री को जागरूक व समिद्ध कर सकें तो उन्नति-शिखर के अन्य छन्द भी जागरूक व समिद्ध हो सकते हैं । यही भाव इस सूक्ति में है—

सा गायत्री समिद्धाऽन्यानि छन्दांसि समिन्धे।
श प. १।३।४।६

अतः बच्चों की शिक्षा में संगीत का समावेश अवश्य होना चाहिये । सरस्वती का संगीत से अटूट सम्बन्ध माना गया है । इसीलिये प्राचीन विचारकों ने सरस्वती देवी के हाथों में वीणा पकड़ायी है । हां, यह अवश्य विचारणीय है कि शिक्षा में किस प्रकार के संगीत का कैसा और कितना समावेश व समन्वय होना चाहिये ।

गायत्री-अग्नि

शरीर की समग्र शक्तियों का सुचारु रूप से कार्य करने लगना ही यज्ञ है ऐसा हमें नहीं समझना चाहिये क्योंकि यज्ञ में देवों को आहुति दी जाती है । अतः यज्ञ में देवों का सम्मिलित होना (अग्ने देवां इहावह) दिव्यता का प्रकाश

होना आवश्यक है । इस शरीर-यज्ञ का प्रारम्भ १सिर के पूर्वार्ध तथा मुख से है । स्थूल शरीर सम्बन्धी अन्नमय यज्ञ, प्राणमय यज्ञ, मन व सूक्ष्म चेतना सम्बन्धी यज्ञ, ज्ञानयज्ञ. अर्थात् शरीर मे होने वाले स्थूल व सूक्ष्म सभी यज्ञों का प्रारम्भ मुख२ से होता है क्योंकि आहुति मुख मे ही पड़ती है । ज्ञानयज्ञ का प्रारम्भ भी मुख ही है । मुख आहवनीय है । मुख मे विद्यमान अग्नि इन समग्र यज्ञों की योनि,३ यज्ञ का मुख और यज्ञ की प्रणयन कर्त्री मानी गई है । शरीर मे जहां-जहां भी

१ शिरो वै यज्ञस्याहवनीय: पूर्वोऽर्धो वै शिर पूर्वार्धमेवैतद् यज्ञस्य कल्पयति ।
श. प. १।३।३।१२

२ मुखमेवास्य (पुरुषयज्ञस्य) आहवनीयः ।
श प ३।५।३।१
आहवनीयो वा आहुतीनां (अन्नादीनां, ज्ञानाना वा) प्रतिष्ठा । श. प २।४।३।१०

३. अग्नि वें योनिर्यज्ञस्य । श. प. १।५।२।१४
प्रणीर्यज्ञानाम्, यजु. । अग्नि वैं यज्ञमुखम् ।
तै ब्रा १।६।१।८

यज्ञ हो रहे हैं वहां-वहां अग्नि ही प्रमुख कारण है। अतः अग्नि के प्रदीप्त होने से शरीर के सब यज्ञ चालू हो जाते हैं और इस अग्नि में आहुति रूप में सोम रूपी वीर्य आकर पड़ने लगता है। इस प्रकार यज्ञों के निष्पन्न होने से यह शरीर ब्राह्मी तनु१ बन जाता है, अतः अग्नि ब्राह्मण है और ब्राह्मण अग्नि है अर्थात् ब्राह्मण में ब्रह्मतेज होता है और वह ब्रह्मतेज इस अग्नि के प्रताप से है। अग्नि का छन्द गायत्री माना जाता है अर्थात् जहां २ यज्ञ हो रहे हैं, वहां २ अग्नि है और जहां २ अग्नि है वहां २ उसका आच्छादक गायत्री है। वैसे शरीर में गायत्री का प्रमुख स्थान शरीर के अग्र भागों में, मुख में तथा नाभि से जानु तक माना है, परन्तु हमें यही समझना चाहिये कि शरीर में जहां २ अग्नि है, वहां २ गायत्री भी है। गायत्री के तीन पद होते हैं। मनुष्य के शरीर में भी अग्नि की स्थिति त्रिकोणात्मक है। वेद में

---

१ महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः—मनुः।
अग्निर्ब्रह्म अग्निर्हवाव राजन् गायत्रीमुखम्।
जै. उ ४।६।२।२

अग्नि को त्रिवृत् कहा है। अहिर्बुध्न्य संहिता में कहा है—

चतुष्कोणं त्रिकोणं तद्वृत्तमाग्नेयमण्डलम्
चतुष्पदां नृणां चैव विहंगानां यथाक्रमम्।
अहि॰ ३२।६

अर्थात् प्राणियों में यह आग्नेय मण्डल चतुष्कोण, त्रिकोण तथा वृत्ताकार रूपों में होता है। चतुष्पदों में चतुष्कोण, मनुष्यों में त्रिकोण तथा पक्षियों में वृत्त रूप में होता है। इस प्रकार प्राणियों में अग्नि की स्थिति है। गायत्री से यह त्रिकोणात्मक अग्नि प्रदीप्त होती है। अतः यज्ञ, मुखस्थ अग्नि और गायत्री ये क्रमशः अपने २ पूर्ववर्ति के कारण हैं।

जिस उद्देश्य के लिये मनुष्य में अग्नि प्रवृद्ध होती है। वह उसकी सर्वत्र स्तुति व गान किया करता है। ऐसे पुरुषों को हम गायत्री पुरुष कह सकते हैं। ये गायत्री पुरुष, गायत्री के अर्वाची पराची अथवा एति[१] व प्रेति रूप के कारण दो

१. स वां एति च प्रेति चान्वाह।

प्रकार के होते हैं। गायत्री के पराची रूप में गायत्री ऊर्ध्वारोहण का गुण रखती है और देवों के लिये हवि वहन करती है और अर्वाची गायत्री मनुष्यों की रक्षा करती है। गायत्री की ये अर्वाची पराची गतियां मनुष्य के जीवन में परिवर्तित होती रहती हैं। पराची गायत्री वाले व्यक्ति समाज से विरक्त होते हैं क्योंकि उनका ध्येय ऊर्ध्व में देवलोक-प्राप्ति अथवा मस्तिष्क में सदा रमण करना, ज्ञान-विज्ञान की प्राप्ति में सदा संलग्न रहना ही होता है। परन्तु अर्वाची गायत्री वाले व्यक्ति समाज के अभ्युदय के लिये अपने जीवन को न्यौछावर करते हैं। स्वामी दयानन्द और महात्मा गांधी आदि अर्वाची गायत्री के व्यक्ति थे। यही भाव श. प. १।४।१।४ में अभिव्यक्त हुआ है। इसी भांति एति प्रेति की व्याख्या हो जाती है। जैमिनीयोपनिषद्१ ब्राह्मण में 'एति प्रेति'

गायत्रीमेवैतदर्वाचीं च पराचीं च युनक्ति।
पराच्यह देवेभ्यो यज्ञं वहत्यर्वाची मनुष्यानवति।
श. प. १।४।१।४

१. प्रेत्येति वाग् इति ····· तद् यत् प्रेति तत्

की व्याख्या अपान प्राण (एति=अपानिति, प्रेति=प्राणिति) द्वारा की गई है। एति अर्थात् अपानिति उस परलोक के लिये है और प्रेति अर्थात् प्राणिति इस लोक के लिये है। गायत्री छन्द की अवस्था में मनुष्याभ्यन्तरवर्ती सोम उशिक्[१] रूप वाला होता है अर्थात् मनुष्य से अभ्युदय की उत्कट कामना होती है और वह सबका कमनीय होता है। (उशिक् वष्टे. कान्तिकर्मण:) और त्रिष्टुप् के क्षेत्र में पहुंच कर यही सोम वशी गुण वाला हो जाता है अर्थात् सोम में सबको वश में कर लेने की अद्भुत शक्ति जागृत हो जाती है। अध्यात्म में सिर से पैर तक व्यक्ति के तीनों क्षेत्र अग्नि के प्रभाव मे होते है। गायत्री के प्रभाव से यह अग्नि तीनों क्षेत्रों को अभिभूत करती है। इस दृष्टि से भी गायत्री के तीन पद (त्रिपदी) हैं और २४ वर्ष का ब्रह्मचर्य २४ अक्षर है।

प्राणस्तदय लोकस्तदिम लोकमस्मिल्लोक आभजति एत्यपानस्तदसौ लोकस्तदमुलोकममुष्मिल्लोक आभजति। जै. उ. २।३।३।४–५

१. उशिक् त्व देव सोम गायत्रेण छन्दसा०
तै. स ३।३।३।२

गायत्री-ब्रह्मतेज (आग्नेयतेज)

गायत्री शरीर मे विद्यमान स्थूल व सूक्ष्म अग्नियों की उत्पत्ति में तथा वृद्धि मे कारण बनती है। अग्नियां[1] तैजस होती हैं जिनका शरीर मे प्राकट्य निम्न रूपों में वर्णित हुआ है। रूप, रूपेन्द्रिय (चक्षु) वर्ण, सन्ताप, भ्राजिष्णुता, पक्ति, अमर्ष, तीक्ष्णता तथा शौर्य ये सब तैजस कहलाते हैं। सुश्रुत[2] मे आता है कि तेज का स्वभाव ऊर्ध्वगति का होता है, दहन, पचन, दारण, ताप, प्रकाश तथा वर्ण मे प्रभा व दीप्ति को करने वाला तेज होता है।

शरीर मे अग्नि की विधिवत् सम्यक् वृद्धि से ये सब उत्पन्न होते हैं। शास्त्रों में ब्राह्मण को अग्निरूप बताया है अतः अग्नि व तेज के ये सब

---

१. तैजसास्तु रूप रूपेन्द्रिय (चक्षु) वर्णः सन्तापो भ्राजिष्णुता पक्तिरमर्ष. तैक्ष्ण्य शौर्य च। वृद्धत्रयी।

२. विशेषतश्चोर्ध्वगतिस्वभावमिति तैजसम्। तद् दहनपचनदारणतापनप्रकाशनप्रभावर्णकरमिति। सु सू ४१।४

गुण ब्राह्मण मे स्वाभाविक रूप मे होने चाहिये। कौन सच्चा ब्राह्मण है और कौन विकृत व हीन ब्राह्मण है, यह इन गुणों के निरीक्षण व सम्यक् विवेचन से ज्ञात हो सकता है। आयुर्वेद-ग्रन्थों मे पित्त को अग्नि माना है। त्वचा में यह पित्त भ्राजक१ होता है। इसी प्रकार अग्नि के अनेकों रूप व गुण शास्त्रों मे ऽतिपादित हुये है। वसु ब्रह्मचारी मे ये सब रूप व गुण होने चाहिये। अग्नि के ये प्रायः स्थूल रूप हैं। सूक्ष्म स्तरों पर उसके सूक्ष्म व सूक्ष्मतम रूप भी हैं जो कि दिव्यता में परिणत हो जाते हैं। दिव्यत्व में परिणत हो अग्नि के सूक्ष्म रूप ब्रह्मतेज नाम से विख्यात होते हैं। यह सब गायत्री के प्रभाव से होता है। अतः हम यह कह सकते हैं कि ब्राह्मण का स्वाभाविक

---

१. यत्तु त्वचि पित्त तस्मिन् भ्राजकोऽग्निरिति सज्ञा। सू सू २१।१०
त्वक्स्थ भ्राजक भ्राजनात् त्वच.।
आं हृ. सू. १२।४

छन्द गायत्री है। इस प्रकार अग्नि, ब्रह्म, ब्राह्मण, गायत्री, प्रातः सवन आदि इन सबका परस्पर सम्बन्ध है। ये सब तेजः स्वरूप हैं। गायत्री सम्बन्धी उपर्युक्त विवरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि मनुष्य में यदि यह गायत्री सक्रिय व सफल हो जाती है तो अन्य सब छन्दों का सक्रिय व सफल होना सुगम होता है। इसी दृष्टि से शास्त्रों में कहा है कि—

सा गायत्री समिद्धान्यानि छन्दांसि समिन्धे।
श. प. १।३।४।६

अर्थात् समिद्ध व प्रदीप्त हुई यह गायत्री अन्य छन्दों को समिद्ध व प्रदीप्त कर देती है। इसी कारण ताण्ड्यमहाब्राह्मण ने तो सब छन्दों को इसी गायत्री में समाविष्ट कर दिया है। यथा—

गायत्री वाव सर्वाणि छन्दांसि।
ता ब्रा. ८।४।४

इस प्रकार हमने संक्षेप में गायत्री के स्वरूप पर विचार किया। यह गायत्री आग्नेयतेज है। विष्णु क्रमण मे यह ऊर्ध्वारोहण करती है।

अन्तरिक्ष-विक्रमण

विष्णु के अन्तरिक्ष विक्रमण के सम्बन्ध में शतपथ ब्राह्मण में आता है कि—

अन्तरिक्षे विष्णुर्व्यक्रंस्त त्रैष्टुभेन छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः ।

श प १।९।३।१०

अर्थात् विष्णु ने अन्तरिक्ष में त्रिष्टुप् छन्द द्वारा विक्रमण किया जिसका परिणाम यह हुआ कि अन्तरिक्ष मे उन शत्रुओं को निकाल बाहिर किया गया जो कि हम से द्वेष करते हैं और जिन से हम द्वेष करते हैं। अन्तरिक्ष में विष्णु के विक्रमण का साधन त्रिष्टुप् छन्द बताया गया है। अतः हम त्रिष्टुप् छन्द के स्वरूप पर विचार करते है।

विष्णु के ऊर्ध्वारोहण मे प्रथम पग गायत्री छन्द द्वारा पार्थिव क्षेत्र मे होता है, यह हम ऊपर देख चुके हैं। अब हम विष्णु के द्वितीय पग पर संक्षेप में विचार करते है। विष्णु का द्वितीय पग त्रिष्टुप्[1] छन्द द्वारा अन्तरिक्ष में माना गया है।

---

१ त्रैष्टुभं छन्दोऽन्तरिक्ष स्थानम्। गो. पू. १।२९

अध्यात्म क्षेत्र में पृथिवी से उदर, उपस्थ आदि शरीर के निचले अंगों का तो ग्रहण होता ही है पर इस में समग्र स्थूल शरीर व प्राण भी समाविष्ट हैं। अन्तरिक्ष से हृदय१ मन, प्राण व इन्द्रियां आदि का ग्रहण होता है। यह वेद के त्रिष्टुप् छन्द का क्षेत्र है। जहां गायत्री ब्राह्मण में ब्रह्मवर्चस् तेज को उत्पन्न करती है, वहां त्रिष्टुप् क्षत्रिय में ओज२ की उत्पत्ति में कारण बनता है। अथवा यह भी कह सकते हैं कि एक ही व्यक्ति में गायत्री से ब्रह्मवर्चस् तेज पैदा होता है तो त्रिष्टुप् से ओज उत्पन्न होता है। शतपथ ब्राह्मण में आता है कि विष्णु के आरोहण में सब देवता अग्नि का रूप धारण कर आरोहण करते हे, परन्तु फिर भी

त्रैष्टुभमन्तरिक्षम्। श. प ८।३।४।११

१ उरस्त्रिष्टुप्। ष २।३, उरस्त्रिष्टुभः। श. प. ८।६।२।७

२. ओजो वा इन्द्रियं वीर्यं त्रिष्टुबोजस्वीन्द्रियवान् वीर्यवान् भवति। ऐ ब्रा. १।५ इन्द्रियं वै वीर्यं त्रिष्टुप्। तै. ब्रा १।७।६।८ ब्रह्म गायत्री क्षत्र त्रिष्टुप्। श प १।३।५।५

विष्णु के प्रथम पद-विन्यास में प्रमुख साधन अग्नि बनता है तो द्वितीय में इन्द्र[१]। इसी द्वितीय पद में ब्रह्मचारी का रुद्र रूप होता है जो कि सब प्रकार के दोषों व पापों को रुलाता है। त्रिष्टुप् के चवालीस अक्षर रुद्र[२] ब्रह्मचारी के चवालीस वर्ष के ब्रह्मचर्य का प्रतीक है और इसी त्रिष्टुप् छन्द के एकादश अक्षर ग्यारह प्रकार के रुद्रों को दर्शाता है। जिस प्रकार गायत्री वसुओं की पत्नी है, उसी प्रकार त्रिष्टुप् रुद्रों की पत्नी[३] कही गई है। गायत्री[४] ब्रह्म है और त्रिष्टुप् क्षत्र है। लोक को पुण्यशाली बनाने के लिये ब्रह्म और क्षत्र का सम्यक् मेल करना

---

१ त्रैष्टुभ. इन्द्र:, इन्द्रस्त्रिष्टुप्। कौ ३।२, श प ६।६।२।७

२ चतुश्चत्वारिंशदक्षरा वै त्रिष्टुप्। श प ८। ५।१।११ रुद्रास्त्रिष्टुभ समभरन्। जै उ १।१८।५ एकादशरुद्रा एकादशाक्षरा त्रिष्टुप् तै. स ३।४।६।७

३ त्रिष्टुब्रुद्राणा पत्नी। गो उ २।६

४ ब्रह्म गायत्री क्षत्र त्रिष्टुप। श प १।३।५।५ ब्रह्म च क्षत्रञ्च सम्यचौ चरत सह। यजु

चाहिए। इसी प्रकार शरीर में गायत्री ब्रह्म तेज है और त्रिष्टुप् इन्द्रिय शक्ति व ओज१ है। दोनों के सम्मिश्रण से इन्द्रियों में तेजस्विता पैदा होती है, और तेज तथा ओज का सम्मिश्रण होता है। गायत्री में ऊर्ध्वगति है तो त्रिष्टुप् में अपान२ प्रक्रिया द्वारा शत्रुओं तथा विजातीय तत्त्वों को बाहिर किया जाता है। गायत्र३ छन्द में सोम उशिक् अर्थात् कमनीयता व तेजस्विता को धारण करता है तो त्रिष्टुप् के क्षेत्र में आकर यही सोम वशी गुण वाला हो जाता है अर्थात् यह सब को वश में करने वाला बन जाता है। अग्नि के समि-

---

१ तेजो वै गायत्री इन्द्रिय त्रिष्टुप् तेजश्चैवास्मि-न्निन्द्रिय च समीची दधाति। कपि ३०।२
ओजो वा इन्द्रिय वीर्यं त्रिष्टुप्। ऐ ब्रा १।५,२८

२ अपानस्त्रिष्टुप्। तां. ७।३।८

३. उशिक् त्व देव सोम गायत्रेण छन्दसाऽग्नेः प्रिय पाथोऽपीहि। वशी त्व देव सोम त्रैष्टु-भेन छन्दसा इन्द्रस्य प्रियं पाथोऽपीहि।
तै सं ३।३।३।२

न्धन[1] में जब मन व प्राण आदि आन्तरिक शक्तियां समिधा रूप बनती हैं तो गायत्री छन्द रक्षा करने वाला होता है और ब्रह्मशक्ति द्रविण रूप होती है। यही मन और प्राण आदि आन्तरिक समिधाएं प्रज्वलित होकर और उग्र रूप धारण करके अग्नि को समिद्ध व प्रदीप्त करती हैं तो त्रिष्टुप् छन्द रक्षा करता है और क्षत्रशक्ति द्रविण बनती है। तै. सं. ३।२।१।१ में आता है कि यह सोम[2] गायत्री छन्द में श्येन का रूप धारण करता है तो त्रिष्टुप् छन्द में सुपर्ण का। श्येन और सुपर्ण दोनों सोम के रूप हैं। दोनों ही स्वर्ग[3] की ओर

---

१. समिधमातिष्ठ गायत्री त्वा छन्दसामवतु—
ब्रह्म द्रविणम्
उग्रामातिष्ठ त्रिष्टुप् त्वा छन्दसामवतु—
क्षत्र द्रविणम्। तै स १।८।१३।१

२. श्येनोऽसि गायत्र छन्दा अनुत्वाऽऽरभे स्वस्ति मा संपारय। सुपर्णोऽसि त्रिष्टुप्छन्दा अनुत्वाऽऽरभे स्वस्ति मा सपारय। तै स. ३।२।१।१

३. श्येन एव भूत्वा सुवर्ग लोक पतति। तै स. ५।४।११।२ सुपर्णोऽसि गरुत्मान् दिव गच्छ सुवः पत। तै. स. ४।१।१०।५

उड़ान भरते हैं। परन्तु श्येन का सम्बन्ध गायत्री छन्द, स्थूल शरीर, उदर, उपस्थ तथा प्राण से है और वह प्रमुख रूप से अग्नि देवता का स्वरूप है। और सुपर्ण का सम्बन्ध त्रिष्टुप् छन्द अर्थात् हृदय, मन व सूक्ष्म शरीर से है। इन्द्र व आत्मा देवता है। श्येन१ अंगों को तीक्ष्ण करता हुआ ऊर्ध्वगति करता है तो त्रिष्टुप् अंगों का पालन पोषण करता हुआ उड़ान भरता है।

द्यु-विक्रमण

विष्णु के तृतीय विक्रमण अर्थात् द्युलोक मे विक्रमण का वर्णन शतपथ ब्राह्मण मे निम्न शब्दों में हुआ है—

---

१ यदाह श्येनोऽसीति सोम वा एतदाहैष ह वा अग्नि र्भूत्वाऽस्मिंल्लोके सश्यायति। तद्यत् सश्यायति तस्माच्छ्येनस्तस्माच्छ्येनस्य श्येनत्वम्। गो. पू ५।१२ श्येन=शो तनूकरणे, श्यैङ् गतौ वा। सुपर्ण = सु+पृ पालनपूरणयोः।

दिवि विष्णुर्व्यक्रंस्त जागतेन छन्दसा
ततो निर्भक्तो योऽस्मान् द्वेष्टि यं
च वयं द्विष्मः ।

श प. १।६।३।१०

अर्थात् विष्णु ने द्युलोक में जगती छन्द द्वारा विक्रमण किया। इससे यह हुआ कि द्युलोक से उन शत्रुओं को बाहर निकाल दिया गया जो हमसे द्वेष करते हैं और जिनसे हम द्वेष करते हैं। द्युलोक में विष्णु के विक्रमण का साधन जगती छन्द है अतः अब हम जगती छन्द पर कुछ विचार प्रस्तुत करते हैं।

विष्णु का तृतीय पग जगती द्वारा निष्पन्न होता है। यह पग ग्रीवा से मस्तिष्क में प्रवेश का पग है। कहा भी है—

ग्रीवदघ्नं चिन्वीत तृतीयं चिन्वानो जगत्यैवामुं लोकमभ्यारोहति ।

तै. स. ५।६।८

अर्थात् अग्नि का तृतीय चयन सिर के ऊपर

से लेकर ग्रीवा तक है। इसमें जगती द्वारा ऊर्ध्वारोहण होता है। जगती छन्द आदित्यों का माना जाता है मस्तिष्क मे द्वादश आदित्यों का निवास है। शरीर-विज्ञान की भाषा में हम इस प्रकार समझ सकते हैं कि शिर से नाड़ियों के जो द्वादश युग्म निकलते है और भिन्न-भिन्न कार्यो के लिये भिन्न-भिन्न अंगों को जाते है उन द्वादश युग्मों में विद्यमान् शक्तियां ही वैदिक भाषा मे आदित्य नाम से प्रसिद्ध है। इन नाड़ियों का उत्पत्तिस्थल मस्तुलुंग पिण्ड (सिर) का अधोभाग होता है। यही स्थान क्रियावाहक नाड़ियों का स्थल है जिसे कि शास्त्रों मे कुरुक्षेत्र या कर्मक्षेत्र कहा है। गो.पू १।२९ में आता है कि—

साम्नामादित्यो दैवत तदेव ज्योति-
र्जागतं छन्दो द्यौः स्थानम्।

सामों अर्थात् शरीरस्थ प्राणों का देवता आदित्य है, वही ज्योति है, जगती छन्द है, द्यु अर्थात् मस्तिष्क इस आदित्य का निवास है। वास्तव मे आदित्यों का स्थान सिर के पीछे से

सुषुम्णा काण्ड द्वारा मूलाधार तक चला गया है। इसीलिये जगती१ छन्द द्यु (मस्तिष्क) त्रिष्टुप् (उरस्=छाती) श्रोणी (कटिप्रदेश) तथा अनूक (मूत्रवस्ति) इन सब क्षेत्रों में अभिव्याप्त माना गया है। परन्तु इस छन्द की व्याप्ति पीठ पीछे की ओर है। आदित्यों के सब धाम पीछे की ओर हैं। देह के मध्यस्थित प्राण से आगे की ओर

---

१. जगती प्रतीचीदिक्। श प ८।३।१।१२
प्रतीच्या त्वा सादयामि जागतेन
छन्दसा सवित्रा देवतया।
तै. स. ५।५।८।२
आदित्यास्त्वा पश्चादभिसिञ्चन्तु जागतेन
छन्दसा। तै ब्रा २।७।१५।५
त्रैष्टुब् जागतो वा आदित्यः। ता.ब्रा ४।६।२३
श्रोणी जगत्य अनूकं जगत्यः—अनूक मूत्र-
वस्तिः स्यात् सास्नेत्येके वदन्ति च।
ऐ. ब्रा ७।१, षड्गुरू शिष्य।
ये पश्चात् ते आदित्यधामानः।
यावत्यु वा एतस्मात् प्राणात् पुरस्तादुरस्ता-
वति पश्चात् श्रोणीः। श. प ८।६।२।८

"उरस्" अर्थात् छाती है, उतने ही स्थान में पीछे श्रोणी है। यह जगती ऊपर सिर से नीचे की ओर गति करती है। जगती छन्द की गति को दैवत ब्राह्मण में निम्न शब्दों में दर्शाया है।

गततमं छन्दो जज्जगतिर्भवति क्षिप्रगति-
र्जज्मन्ता कुर्वन्नसृजतेति हि ब्राह्मणम्।
दै ब्रा ३।१७

शरीर के क्षेत्र में इसका भाव यह है कि यह छन्द गततम अर्थात् संज्ञा व क्रियावाहक नाड़ियों द्वारा शरीर में सर्वत्र पहुचा हुआ है। यह क्षिप्र-गति वाला छन्द है। "जज्मला" यह शब्द या तो शब्दानुकृति है या गत्यनुकृति का सूचक है। निरुक्त ७।३।६ में आता है—

जगती गततमं छन्दो जलचरगति र्वा
जल्गल्यमानोऽसृजदिति च ब्राह्मणम्।

दुर्गाचार्य ने इसकी व्याख्या निम्न प्रकार की है:—

जलचर–गति र्वा जलोर्मिप्रकारो हि तस्याः प्रस्तारः । ग्लै हर्षक्षये क्षीणहर्ष इव किलैतां प्रजापतिः ससृजे ददर्शेत्यर्थः नहि छन्दांसि क्रियन्ते नित्यत्वादेव छन्दसाम् ।

अर्थात् जगती सम्बन्धी गतियां जलतरङ्ग के समान होती हैं। शरीर में रुधिर की गति तो स्पष्ट रूप में जलतरङ्ग के समान दृष्टिगोचर होती हैं, परन्तु अन्य चेतना सम्बन्धी गतियां भी ऊर्मिवत् होती हैं यह उपर्युक्त व्युत्पत्ति से ज्ञात होता है। जगती सम्बन्धी सब प्राणिक गतियां ऊर्ध्व से नीचे की ओर होती हैं। इसीलिये कहा है कि—

योऽयमवाङ्प्राण एष जगती ।

श. प १०।३ ११

अर्थात् ऊर्ध्व से नीचे की ओर प्राणों की गति का होना जगती का रूप है। प्राणों की यह अर्वाङ् गति शरीर के नियमन व पोषण आदि के लिये होती है। जगती छन्द आदित्य नामक प्राणों का है। इस आदित्य अवस्था में प्राण सर्वोत्कृष्ट व

सर्वज्ञान-सम्पन्न होते हैं। जगती छन्द के अड़तालीस अक्षर, ४८ वर्ष के ब्रह्मचर्य का प्रतीक है और द्वादश अक्षर, द्वादश प्रकार के आदित्यों का सूचक है। वास्तव में मस्तिष्क के द्वादश नाड़ी-युग्मों में विद्यमान शक्ति को अपनी सामान्य अवस्था में आदित्य नहीं कह सकते। इनमें जब दिव्य-शक्ति प्रादुर्भूत होकर सामान्य शक्ति को अभिभूत कर लेती है तभी यह आदित्य है। यही भाव-'त्री रोचना दिव्या धारयन्त:, रोचन्ते रोचना दिवि।' आदि वेद वाक्यों में सन्निहित है।

दिग्विक्रमण=चतुर्थक्रमण=वीक्षण

इससे पूर्व हमने विष्णु के तीन पाद-प्रक्षेपों का स्वरूप स्पष्ट किया। अब हम चतुर्थ पाद-प्रक्षेप (दिग्विक्रमण) को भी स्पष्ट करते हैं। बाह्य कर्मकाण्ड की दृष्टि से यजमान द्वारा चतुर्थ पाद-प्रक्षेप नहीं करना होता। इस चतुर्थ क्रमण के अवसर पर वह केवल दिशाओं का वीक्षण व दर्शन करता है। कात्यायन श्रौत सूत्र में आता है कि—

अक्रमश्चतुर्थे

का श्रौ. १६।५।१२

अर्थात् चतुर्थ मन्त्र मे क्रमण न करे। शतपथ ब्राह्मण मे इस चतुर्थ क्रमण को इस भांति दर्शाया गया है—

विष्णोः क्रमोऽसीति । विष्णुर्हि भूत्वा क्रमते शत्रूयतो हन्तेति शत्रूयतो ह्यत्र हन्त्यानुप्टुभ आरोहेत्यानुष्टुभं छन्द आरोहति दिशोऽनुविक्रमस्वेति सर्वा दिशोऽनुवीक्षते न प्रहरति पादं नेदिमांल्लोकानतिप्रणश्यानीत्यूर्ध्वमेवाग्निमुद् गृह्णाति सं ह्यारोहति ।

श प ६।७।२।१६

इस चतुर्थ क्रमण में दिशाओं से आते हुए दुर्विचार व पापरूप शत्रुओं का वाक् द्वारा हनन होता है। यह शत्रु-हनन अनुष्टुप् छन्द (वाक्) पर आरूढ़ होकर ही होता है । दिग्विक्रमण मे दिशाओं का वीक्षण है, पाद प्रक्षेप नहीं है। बाह्य कर्म काण्ड मे भी यजमान पाद प्रहार न करके केवल दिशाओं का वीक्षण किया करता है। यह क्यों है? इसका हेतु यह दिया कि पाद प्रहार करने से लोक विनष्ट हो जायेंगे । अतः ब्राह्मणकार को यहां अग्नि का उद्ग्रहण, ऊर्ध्वग्रहण (उद्गृह्णात्येव)

ही अभीष्ट है । शतपथ ब्राह्मण की उपर्युक्त कण्डिका को समझने के लिये हमे दो तीन बाते ध्यान मे रखनी चाहिये । एक तो यह कि विष्णु के तीन पाद-प्रक्षेपों से सोम और अग्नि दोनों 'द्यु' अर्थात् मस्तिष्क में पहुच चुकते हैं । चौथे पाद प्रक्षेप द्वारा यदि इन दोनों को दिशाओं में भेज दिया व फैला दिया तो सोम व अग्नि के ऊर्ध्व ग्रहण का हेतु व लाभ ही विनष्ट हो जायेगा। अग्नि की स्थिति ऊर्ध्व में न रह कर चहुंओर विस्तृत होने से वह अग्नि विनष्ट हो जायेगी। अर्थात् जो अग्नि ऊर्ध्व मे मस्तिष्क मे पहुंच कर ज्ञान-प्राप्ति व दिव्यता-प्राप्ति मे हेतु बनती है, वह ऊर्ध्व में न रह कर चहुं ओर दिशाओं में, प्रसृत विषयों मे जाकर क्षीण व विनष्ट हो जायेगी। ब्राह्मण ज्ञान-प्रधान होता है, शरीर मे वह मुख स्थानीय है। उसके निवास का स्वाभाविक स्थान मुख व मस्तिष्क है। अत अग्नि रूप ब्राह्मण वही श्रेष्ठ होता है जिसकी अग्नि ऊर्ध्व मे ही जाती है। रात दिन ज्ञान प्राप्ति में सलग्न रहना ब्राह्मण का धर्म है। अग्नि का चहु दिशाओं में फैलना अर्थात् धन, दौलत, सम्मान व यशः प्राप्ति की अभिलाषा से

ब्राह्मण का चहुं ओर भागे-भागे फिरना ब्राह्मणत्व का विघातक है। एक प्रकार से यह अग्नि का शमन है। इसी दृष्टि से मनु महाराज ने कहा है—

सम्मानाद् द्विजो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्यैव चाकांक्षेदवमानस्य सर्वदा॥

अर्थात् द्विज सम्मान को विषतुल्य समझ कर उसका परित्याग कर देवे और अपमान को अमृत-तुल्य समझ कर उसका स्वागत करे और कुछ-कुछ यही भाव अग्निहोत्र के समय अग्नि-कुण्ड के चारों ओर जल प्रक्षालन में है। आन्तरिक दिव्य-ज्ञान की प्राप्ति के इच्छुक ब्राह्मण को अपनी अग्नि अन्य दिशाओं में न ले जाकर ऊर्ध्व में मस्तिष्क की ओर ही प्रेरित करनी चाहिये। यह अग्नि मन द्वारा भी दिशाओं में व्याप्त विषयों में जाकर विनष्ट हो सकती है, अतः मन द्वारा भी बाहिर दिशाओं में न जावे इस दिग्विक्रमण में अनुष्टुप् छन्द पर आरोहण होता है। अनुष्टुप् वाक् है। इस वाक् के प्रभाव से पापादि शत्रुओं को दूर ही रखना चाहिये। दिशाओं में विक्रमण

का भाव यह भी हो सकता है कि मानसिक वासनाओं व इच्छाओं को लेकर तो दिशाओं में न जावे, अर्थात् इस प्रकार वासनाओं की पूर्ति न करता फिरे, केवल वीक्षण व दर्शन द्वारा संसार का ज्ञान प्राप्त करे । ज्ञान-विज्ञान अर्थात् वाक् द्वारा उसका यश स्वयं फैल जाये ।

विष्णु के अन्य क्रमण

ऊपर हमने विष्णु की त्रिपदी व उसके दिग्विक्रमण पर विचार किया । इन क्रमणों के अतिरिक्त भी विष्णु के अन्य क्रमण हैं । अथर्व. १०।५ (२) में उन क्रमणों का निर्देश हुआ है । संक्षेप में वे निम्न प्रकार हैं—

पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यु, दिक्, आशा, ऋक्, यज्ञ, ओषधी, अप, कृषि, प्राण ।

ये उपर्युक्त क्रमण अथर्ववेद में बताए गए हैं । इनमें पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यु तथा दिक् इन चार क्रमणों पर हम पूर्व में विचार कर चुके हैं पर अथर्ववेद में वर्णित पृथिवी आदि के क्रमणों में कुछ विशिष्टता है । उन विशिष्टताओं तथा अन्य क्रमणों को अब हम यहां प्रदर्शित करते हैं ।

पृथिवीसंशितोऽग्नितेजाः
अथर्व १०।५(२)।१

अर्थात् विष्णु का पार्थिव क्रमण पृथिवी से तीक्ष्णीकृत होता है और उसमें आग्नेय तेज उत्पन्न होता है। अध्यात्म क्षेत्र में स्पष्ट करना चाहें तो यह कह सकते हैं कि स्थूल शरीर के उदर व उपस्थ आदि अंगों मे विद्यमान वीर्य रूपी विष्णु को तीक्ष्ण बनाना और अग्नि मे तेजस्विता पैदा करना यह पार्थिव क्रमण है। इस प्रकार पार्थिव साधनों से तीक्ष्णीकृत होकर और अग्नि के तेज को धारण कर यह विष्णु का क्रमण हमारे पार्थिव शत्रुओं अर्थात् शरीरगत व्याधियों को निकाल बाहिर कर देता है और उन्हें पूर्ण रूप से विनष्ट कर देता है।

अन्तरिक्षसंशितो वायुतेजाः

अन्तरिक्ष अर्थात् मन व प्राण द्वारा तीक्ष्ण होकर और प्राणायाम आदि द्वारा प्राण वायु के तेज को धारण कर यह अन्तरिक्ष क्रमण मनुष्य के मन व इन्द्रियों आदि में सबलता व ओजस्विता

पैदा कर देता है, और आधिरूप चिन्ता आदि शत्रुओं को विनष्ट कर देता है।

द्यौसशित सूर्यतेजाः

विष्णु का तृतीय क्रमण द्यु अर्थात मस्तिष्क सम्बन्धी ज्ञान-विज्ञान द्वारा तीक्ष्ण होकर तथा बुद्धि रूपी सूर्य के तेज को धारण कर मस्तिष्क सम्बन्धी विकारों को विनष्ट करता है।

दिक्संशितो मनस्तेजा

विष्णु का चतुर्थ क्रमण दिशाओं से तीक्ष्णीकृत होता है और मन तेजस्वी होता है। विचारणीय यह है कि यह कैसे हो? हम पूर्व मे यह निर्देश कर चुके हैं कि दिशाओं में क्रमण नहीं है केवल वीक्षण व दर्शन है। मनुष्य का मन इन्द्रियों द्वारा विषयों में जाता है वह उसका दिशाओं में जाना है। यह तीक्ष्णता का नहीं क्षीणता का मार्ग है। इससे मन तेजस्वी नहीं बन सकता। अतः चतुर्थ क्रमण मे तीक्ष्णता पैदा करने तथा मन को तेजस्वी बनाने के लिये आवश्यक यह है कि मनुष्य का

मन विषयों का वीक्षण तो करे पर उन में जावे नहीं।

अब हम विष्णु के अन्य क्रमणों पर संक्षेप मे विचार प्रस्तुत करते हैं :—

ऋक् संशित सामतेजा

ऋचाओं से तीक्ष्णीकृत होता है और साम के तेज वाला बनना है अर्थात् ऋचाओं के सम्यक् स्वाध्याय से तीक्ष्णता उत्पन्न करना तथा उन ऋचाओं पर सोम को आरूढ़ कर वेद विज्ञान का मार्ग प्रशस्त करना होता है।

यज्ञसंशितो ब्रह्मतेजाः

यज्ञों से तीक्ष्ण बन ब्रह्मतेज को धारण करना होता है। अर्थात् यज्ञों द्वारा ब्राह्मी तनु को उत्पन्न किया जाता है। मनु महाराज ने भी यही कहा है।

ओषधीसंशितः सोमतेजाः

ओषधी सेवन से तीक्ष्ण बनना और सोम का तेज धारण करना। सोम ओषधियों का अधिपति

माना जाता है। श्रेष्ठ श्रोषधियों के सेवन से मनुष्य में सोम का तेज प्रवृद्ध होता है।

अप्सुसंशितो वरुणतेजाः

जलों व रसों में तीक्ष्णता पैदा करना और फिर उनके यथाविधि सेवन से शरीर से विजातीय तत्वों व मलों को बाहिर निकालने वाले वरुण-तेज को उत्पन्न करना।

कृषिसंशितोऽन्नतेजाः

कृषि में तीक्ष्णता व उत्कृष्टता को पैदा कर अन्न को तेजस्वी बनाना भी विष्णु क्रमण है। इससे उत्तम रसों से परिपूर्ण श्रेष्ठ अन्न की उत्पत्ति होती है।

प्राणसंशितः पुरुषतेजाः

प्राणों को तीक्ष्ण बनाना जिससे कि राष्ट्र में तेजस्वी पुरुष पैदा हों।

इस प्रकार विभिन्न क्षेत्रों में विष्णु के ये क्रमण दृष्टिगोचर होते हैं। राष्ट्र में जब वैष्णवी शक्ति जागृत हो जाती है तब व्यक्ति, समाज व

राष्ट्र सम्बन्धी विभिन्न क्षेत्रों मे प्रगति व उन्नति होनी प्रारम्भ हो जाती है । इस वैष्णवी शक्ति की अभिव्यक्ति वीर्य के ऊर्ध्वारोहण अर्थात् ब्रह्मचर्य के धारण पर आश्रित है ।

विष्णु क्रमण और तैत्तिरीय संहिता

तैत्तिरीय संहिता ३।५।३ मे विष्णु क्रमण द्वारा तीनों लोकों मे विद्यमान शत्रुओं को अतिक्रान्त करने का पारिभाषिक शब्दों मे एक विशिष्ट वर्णन हुआ है उसे भी सक्षेप में हम यहां प्रस्तुत करते हैं ।

"अग्निना देवेन पृतना जयामि गायत्रेण छन्दसा त्रिवृता स्तोमेन रथन्तरेण साम्ना वषट्कारेण वज्रेण पूर्वजान् भ्रातृव्यान् अधरान् पादयाम्यवैनान् बाधे प्रत्येनान्नुदेऽस्मिन् क्षयेऽस्मिन् भूमिलोके योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मो विष्णोः क्रमेणात्येनान् क्रामामीन्द्रेण देवेन पृतना जयामि त्रैष्टुभेन छन्दसा पञ्चदशेन स्तोमेन बृहता साम्ना वषट्कारेण वज्रेण सहजान् विश्वे-

भिर्देवेभिः पृतना जयामि जागतेन छन्दसा सप्तदशेन स्तोमेन वामदेव्येन साम्ना वषट्-कारेण वज्रेणापरजानिन्द्रेण सयुजो वयं सासह्याम पृतन्यतः घ्नन्तो वृत्राण्यप्रति। यत्तेऽग्नेस्तेजस्तेनाहं तेजस्वी भूयासं यत्ते अग्ने वर्चस्तेनाहं वर्चस्वी भूयासं यत्ते अग्ने हरस्तेनाहं हरस्वी भूयासम्।"

अग्निदेव के द्वारा मैं शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता हू। गायत्रछन्द त्रिवृत् स्तोम, रथन्तर साम तथा वषट्कार रूपी वज्र से मैं पूर्वोत्पन्न शत्रुओं को नीचे दबा देता हू। समक्ष आये हुओं को मार्ग में ही रोक देता हूं। आक्रमण के लिये सन्नद्ध शत्रुओं को दूर से ही परे धकेल देता हूं। इस भूमि-लोक मे और हम अपने निवास से जो हमसे द्वेष करते हैं और जिनसे हम द्वेष करते हैं, उनको मैं विष्णु-क्रमण से अतिक्रान्त कर जाता हूं।

इन्द्र के द्वारा मैं अन्तरिक्षस्थ शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता हू। त्रिष्टुप् छन्द, पञ्चदश

स्तोम, बृहत् साम और वषट्कार वज्र से सहोत्पन्न शत्रुओं को विनष्ट करता हूं।

विश्वेदेवों के द्वारा मैं द्युलोकस्थ शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता हूं। जागतछन्द, सप्तदशस्तोम, वामदेव्य साम तथा वषट्कार वज्र द्वारा 'अपरज' अर्थात् पश्चात् उत्पन्न शत्रुओं को विनष्ट करता हूं और इन्द्र से संयुक्त होकर हम शत्रुओं का अभिभव करें।

हे अग्नि! जो तेरा तेज है उससे मैं तेजस्वी बनूं, जो वर्चस् है उससे वर्चस्वी तथा जो हर है उससे हरस्वी बनूं।

इस उपर्युक्त प्रकरण में कई पारिभाषिक शब्दों पर तो हम विचार कर चुके हैं। अवशिष्ट शब्दों पर सक्षेप में टिप्पणी करते हैं।

अग्नि द्वारा पार्थिव विजय मे निम्न सहायक बनते हैं। गायत्रछन्द, त्रिवृत् स्तोम, रथन्तर साम तथा वषट्कार वज्र। इनमें गायत्र छन्द तथा रथन्तर साम पर हम पृथक् लेख रूप में विचार कर चुके हैं। अब हम अवशिष्ट पर विचार करते हैं।

त्रिवृत्–स्तोम

स्तोम स्तुति समूह या समूह को कहते है। यहां त्रिवृत् स्तोम अग्नि के लिये आया है अर्थात् यह अग्नि तीन समूहों मे विभक्त हो त्रिवृत कहलाती है। ब्राह्मण ग्रन्थों मे त्रिवृत् स्तोम से अग्नि, ब्रह्मवर्चस् तेज और प्राण आदि का ग्रहण किया गया है। इन तीनों का समूह त्रिवृत् स्तोम हो सकता है और ये ही विष्णु के पार्थिवक्रमण मे आते है।

वषट्कार वज्र

वषट्कार स्वाहा का एक रूप है, परन्तु यह शत्रु के विनाश मे प्रयुक्त होता है। यह वषट्कार उस समय वज्र का रूप धारण करता है जब बलपूर्वक उच्च स्वर में इसका उच्चारण होता है। पापादि शत्रुओं को उच्च स्वर से झिड़क कर आसानी से दूर किया जा सकता है। शास्त्रों में ओज और सह इसके प्रियतनु माने गये है। यही भाव निम्न वाक्यों से ध्वनित हो रहा है।

स यदेवोच्चैर्बलं वषट्करोति स वज्रः।

गो उ ३।३

ओजश्च ह वै सहश्च वषट्-
कारस्य प्रियतमे तन्वौ ।

ऐ ब्रा ३।८

इन्द्र द्वारा अन्तरिक्ष-क्रमण

इन्द्र द्वारा अन्तरिक्ष-क्रमण में त्रिष्टुप् छन्द, पञ्चदशस्तोम बृहत्साम और वषट्कार वज्र ये सहायक बनते हैं। इनमें बृहत्साम पर हमने बृहत् रथन्तर नामक निबन्ध (वैदिक धर्म) में विस्तार से विचार किया है। यहां केवल पञ्चदशस्तोम विचारणीय है। यह पञ्चदशस्तोम शरीर में जिन १५ तत्वों की ओर निर्देश करता है वह इस प्रकार हैं। पञ्चदशस्तोम का कार्य-क्षेत्र छाती (उरस्) और बाहुएं है। ता० ब्रा० १७।५।६ मे यजमान की छाती तथा बाहुओं में विद्यमान शत्रु को इस पञ्चदश से दूर करने का विधान किया है। गोपथ ब्राह्मण में ये पञ्चदश निम्न प्रकार बताये हैं—

ग्रीवा. पञ्चदशश्चतुर्दश ह्येवैतस्यां करु-
कराणि भवन्ति वीर्यं पञ्चदशमम् ।

—गो पू ५।३

अर्थात् ग्रीवा पञ्चदश है । इसमें चौदह तो करूकर हैं और १५ वीं इनमें कार्य करने वाली शक्ति । ये करूकर गर्दन के जोड़ (The joints of the neck and the chine) हैं । यह पञ्चदश का समूह ऐन्द्रियिक ओज का वाचक होकर आता है । क्षात्रतेज से इसका सम्बन्ध है । अतः इन्द्र द्वारा अन्तरिक्ष विक्रमण में यह सहायक बनता है ।

विश्वे देवों द्वारा द्यु-विक्रमण

विश्वेदेवों द्वारा द्यु-विक्रमण में जागत छन्द, सप्तदश स्तोम, वामदेव्य साम तथा वषट्कार वज्र ये सहायक होते हैं । इनमें सप्तदश स्तोम तथा वामदेव्य साम विचारणीय हैं । सप्तदश स्तोम शरीर में निम्न प्रकार बताये गये है—

सप्तदशो वै पुरुषो दश प्राणाश्चत्वार्यङ्गा-
न्यात्मा पञ्चदशो ग्रीवा षोडश्यः शिरः
सप्तदशमम् ।

श. प. ६।२।२।६

अर्थात् सप्तदश पुरुष है । इसमें १० प्राण,

४ अग, १ आत्मा, १ ग्रीवा और १ सिर ये सब मिल कर १७ हो जाते हैं। इसी प्रकार वामदेव्य साम सब सामों का सत् बताया गया है। इस का अपना स्वरूप शान्ति व शमन का है। कहा भी है—

वामदेव्यं वै साम्नां सत्।

ता. ब्रा ४।८।१०

शान्ति र्वै वामदेव्यम्।

तै. ब्रा १।१।८।२

अर्थात् इन उपर्युक्त १७ अंगों में वामदेव्य सम्बन्धी शान्ति उत्पन्न करनी चाहिए।

विष्णु का अर्वाङ्-क्रमण व प्रत्यवरोहण

ऊपर हमने त्रिपदी अर्थात् विष्णु के त्रिलोक क्रमण (Ascend) व अन्य क्रमणों पर विचार किया। परन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि विष्णु का केवल उत्क्रमण (Ascend) ही नहीं होता अपितु अर्वाङ्-क्रमण व प्रत्यवरोहण (Descend) भी होता है। अर्वाङ्-क्रमण में ऊर्ध्व से

नीचे की ओर तथा सूक्ष्मता से स्थूलता की ओर को गति होती है । विष्णु त्रिपदी रूप में पृथिवी से द्युलोक तक क्रमण करता है और पुनः अर्वाङ्-क्रमण रूप में पृथिवी की ओर गति करता है । इस अर्वाङ्-क्रमण को प्रत्यावर्तन व प्रत्यवरोहण भी कहते हैं । प्रश्न यह है कि अर्वाङ्-क्रमण क्यों करना पड़ता है ? इस सम्बन्ध में तैत्तिरीय-संहिता में कहा है — 'विष्णु-क्रम[1] स्वर्ग लोक की प्राप्ति हेतु किया जाता है । इसका परिणाम यह होता है कि विष्णु-क्रमण करने वाले की इस पार्थिव लोक से प्रच्युति हो जाती है । इस लोक

---

१ प्र वा एषोऽस्माल्लोकाच्च्यवते यो विष्णु-क्रमान् क्रमते । सुवर्गाय हि लोकाय विष्णु-क्रमाः क्रम्यन्ते । ब्रह्मवादिनो वदन्ति स त्वै विष्णुक्रमान् क्रमेत य इमांल्लोकान् भ्रातृव्यस्य संविद्य पुनरिमल्लोक प्रत्यवरोहेदित्येष वा अस्य लोकस्य प्रत्यवरोहो यदाहेदमहं भ्रातृ-व्यमाभ्यो दिग्भ्योऽस्यै दिव इतीमानेव लोकान् भ्रातृव्यस्य संविद्य पुनरिमं लोकं प्रत्यवरोहति ।
—तै. सं. १।७।६।२

से प्रच्युति न हो इसका उपाय ब्रह्मवादी यह बताते हैं कि विष्णु-क्रमण द्वारा शत्रुओं से आक्रान्त तीनों लोकों को प्राप्त कर अर्थात् द्युलोक तक ऊर्ध्व-गमन कर फिर इस पार्थिव लोक में ही प्रत्यव-रोहण कर जाये। इसलिए विष्णु-क्रमण करने वाला सच्चा यजमान दिशाओं तथा द्युलोक आदि से शत्रुओं का निस्सारण कर फिर इस पृथिवी लोक में ही लौट आता है। ऐसा व्यक्ति ही विष्णु-क्रमों में चतुर माना जाता है।' शतपथ ब्राह्मण में आता है कि 'जब विष्णु[१] का इस पृथिवी पर से उत्क्रमण होता है तब इस लोक के प्राणप्रद जीवन रूप रस के सहित ही होता है। वह रस उपजीवन अग्नि है। यदि यह अग्निरूप

१ अथैनमुपावहरति । एतद्वै योऽस्मिंल्लोके रसो यदुपजीवनं तेनैतत् सहोर्ध्व इमांल्लोकान् रोहत्यग्निर्वा अस्मिंल्लोके रसोऽग्निरुपजीवन तद्यत्तावदेव स्यान्न हास्मिंल्लोके रसो नोप-जीवनं स्यादथ यत् प्रत्यवरोहत्यस्मिन्नेवैत-ल्लोके रसमुपजीवनं दधाति ।

--श. प ६।७।३।३

जीवन-रस ऊर्ध्व में ही रह जाये तो यह पार्थिव लोक विनष्ट हो जाये। इसी कारण पार्थिव लोक को विनाश से बचाने के लिए प्रत्यवरोहण करना पड़ता है। प्रत्यवरोहण से वह जीवन-रस द्विगुणित शक्ति सम्पन्न हो पुनः इस लोक में आ पहुंचता है।' प्रत्यवरोहण के सम्बन्ध में शतपथ ब्राह्मण में अन्यत्र भी कहा है कि 'इस[१] प्रकार विष्णु-क्रमणों द्वारा इस त्रिलोकी मे आरोहण कर यह समझे कि यह सूर्य जो तप रहा है, यही गति है, यही प्रतिष्ठा है। इसको रश्मियां पुण्यशालियों के आश्रयदाता हैं। यह परम दीप्ति ही प्रजापति है और स्वर्ग लोक भी यही है। परन्तु जो इस पार्थिव लोक पर अनुशासन करना चाहे तो वह

१ इत्येवमिमाल्लोकान्त्समारुह्यार्थैषा गतिरेषा प्रतिष्ठा या एष तपति । तस्य ये रश्मयस्ते सुकृतोऽथ यत् पर भाः प्रजापतिर्वा स स्वर्गो वा लोकस्तदेवमिमांल्लोकान्त्समारुह्याथैतां गतिमेतां प्रतिष्ठां गच्छति परस्तास्त्वेवार्वाङ्-क्रमेत य इतोऽनुशासनं चिकीर्षेत् द्वय तद् यस्मात् परस्तादर्वाङ्-क्रमेत ।

उस परम स्थान से अर्वाङ्-क्रमण करे ।' अगली कण्डिका में अर्वाङ्-क्रमण द्वारा शत्रु-विजय की प्रक्रिया यह बताई कि द्युलोक१ से पृथिवी की ओर अर्वाङ्-क्रमण करते हुए तथा शत्रु पर विजय प्राप्त करते हुए देवों ने अपसरण-क्रिया का आश्रय लिया । सर्व प्रथम उन्होंने द्युलोक से शत्रु-विजय कर अपसरण किया, तदनन्तर अन्तरिक्ष से अपसरण किया और अन्त में पृथिवी से अपसरण न करके शत्रुओं से आमने-सामने युद्ध कर इस पृथिवी लोक से शत्रुओं को मार भगाया । पृथिवी पर से अपसरण नहीं है, क्योंकि पृथिवी ही प्रतिष्ठा है । अन्तिम स्थिति स्थान है, इसलिए यहां से अपसरण नहीं करना है । अपसरण का तात्पर्य यह भी हो सकता है कि देवताओं ने द्युलोक व अन्तरिक्ष को युद्धस्थली बनाना उचित न समझ कर पृथिवी

---

१ अपसरणतो ह वा अग्रे देवा जयन्तोऽजयन् । दिवमेवाग्रेऽथेदमन्तरिक्षमथेतोऽनपसरणात् सपत्नाननुदन्त · · · इयं वै पृथिवी प्रतिष्ठा तदस्यामेवैतत् प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठति ।

—श. प. १।९।३।१०-११

को ही उपयुक्त समझा। क्योंकि देव और असुरों में शाश्वतिक वैर है। वे एक दूसरे की टोह में रहते हैं, जब देव प्रत्यवरोहण द्वारा द्युलोक व अन्तरिक्ष से पृथिवी पर आ गये तो पीछे से असुर भी वहां आ पहुंचे और युद्ध प्रारम्भ हो गया। अध्यात्म-क्षेत्र में इसका भाव यह हो सकता है कि एक योग के जिज्ञासु पुरुष को चाहिए कि वह मस्तिष्क व हृदय को देवासुर संग्राम की युद्ध-स्थली न बनने देवें। ये दोनों मस्तिष्क व हृदय सदा दान्त निश्चल व नीरव बने रहें। वासना व कामना आदि का जोर व दबाव इन पर न पड़ने दे। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि असुरों का प्रवेश इनमें न होने पावे। यही अपसरण प्रक्रिया का भाव है। शतपथ ब्राह्मण में कहा है कि शत्रु पर विजय केवल पराङ्-रोहण व पराङ्जय (उत्क्रमण) से ही पूरी नहीं होती। इन पर पूर्ण विजय प्राप्त करने के लिए उत्क्रमण व अर्वाङ्-क्रमण इन दोनों गतियों में यथेष्ट विचरण (उभयथा···कामचरणं भवति) होना चाहिए। यह उभयथा विजय ही वास्तविक विजय है। इस प्रकार अर्वाङ्-क्रमण के हेतु निम्न हो सकते हैं—

१ पृथिवी (शरीर) पर से जो प्राणप्रद अग्नि-रूप जीवन रस द्युलोक में चला गया है, उसे पुनः पृथिवी पर उतार कर लाना।
२ द्युलोक (मस्तिष्क) में सहस्र गुणित हुई प्राणाग्नियों को पृथिवी पर ला कर उन द्वारा अनुशासन करना।
३ दोनों प्रकार की गतियों(उत्क्रमण, अर्वाङ्-क्रमण) से शत्रु पर विजय प्राप्त करना और उसे पूर्ण बनाना।

प्रत्यवरोहण के मन्त्र

द्युलोक व मस्तिष्क में पहुंची प्राणाग्नि के प्रत्यावर्तन व प्रत्यवरोहण के लिये कुछ मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है। अब हम क्रमशः उन मन्त्रों को यहां दर्शाते हैं।

विष्णु क्रमण द्वारा यह अग्नि जब द्युलोक में पहुंचती है तब "अक्रन्ददग्निः स्तनयन्निव द्यौः०" यजु. १२।६ मन्त्र से अग्नि का अनुवचन किया जाता है। अनुवचन का क्या तात्पर्य है, यह तै. स. ५।२।१।२–३ में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है।

प्रजापति[१] ने अग्नि का सर्जन किया तो वह अग्नि उत्पन्न होकर परे को हो चलती चली गई। तब प्रजापति ने "अक्रन्ददग्नि" ऋचा द्वारा उसका पीछा किया और इस मन्त्र के प्रभाव से उसने अग्नि के प्रिय धाम को अवरुद्ध कर दिया। इससे अग्नि परे को न जाकर वहीं रुक गई। क्योंकि जो अग्नि द्वारा विष्णुक्रमण करता है वह परे की ओर ही प्रस्थान करने मे समर्थ होता है, वह प्रत्यावर्तन नहीं कर सकता। अतः प्रत्यावर्तन के लिये सर्व प्रथम अग्नि के ऊर्ध्वगमन का मार्ग अवरुद्ध

---

१ प्रजापतिरग्निमसृजत सोऽस्मात् सृष्टः पराङैत् तमेतयान्वैदक्रन्ददिति तया वै सोऽग्नेः प्रियं धामावारुन्ध यदेतामन्वाहाग्नेरेवैतया प्रिय धामावारुन्ध ईश्वरो वा एष पराङ्प्रदघो यो विष्णुक्रमान् क्रमते चतसृभिरावर्तते चत्वारि छन्दांसि, छन्दांसि खलु वा अग्नेः प्रिया तनूः प्रियामेवास्य तनुवमभिपर्यावर्तते दक्षिणा पर्यावर्तते स्वमेव वीर्यमनु पर्यावर्तते तस्माद् दक्षिणोऽर्ध. आत्मनो वीर्यवत्तरः।

तै सं ५।२।१।२–३

करना पड़ता है। तदनन्तर नीचे की ओर उसे प्रेरित किया जाता है। प्रत्यावर्तन के लिये इन चार छन्दों (यजु. १२।७–१०) का सहारा लेना पड़ता है। ये छन्द अग्नि के प्रियतनु माने गये हैं। इन छन्दों द्वारा यह प्रत्यावर्तन दक्षिण दिशा की ओर से होता है। शरीर में यह शरीर का दक्षिण पार्श्व है। इसी आवर्तन के कारण मनुष्य का दक्षिण पार्श्व अधिक शक्ति शाली होता है। शतपथ ब्राह्मण में भी यही भाव प्रदर्शित हुए हैं। वहां आता है कि प्रत्यावर्तन[१] पूर्ण रूप से होना चाहिये। चार बार ऊर्ध्वारोहण होता है तो चार बार हो प्रत्यवरोहण होना चाहिये।

उपर्युक्त उद्धरणों का क्या तात्पर्य है? यह हम अध्यात्म क्षेत्र में संक्षेप में प्रदर्शित करते हैं। यदि मनुष्य सदा विष्णुक्रमण द्वारा ऊर्ध्व की ओर ही

---

१ एतेन मा सर्वेणाभिनिवर्तस्वेत्येतच्चतुष्कृत्वः प्रत्यवरोहति चतुर्हिकृत्वः ऊर्ध्वो रोहति तद्यावत् कृत्व ऊर्ध्वो रोहति तावत्कृत्वः प्रत्यवरोहति।

श प. ६।७।३।६

गति रक्खे, ऊर्ध्वस्थान में ही सदा लवलीन रहे या निरन्तर स्वाध्याय में ही रत रहे तो अभ्यास-वश उसकी प्रकृति ऊर्ध्व में ही जाने की हो जाती है। तब वह निचले अङ्गों में नहीं उतरता। उसकी प्राणाग्नि सदा सिर में ही स्थिर रहती है। इस अवस्था मे प्राणाग्नि के अभाव में निचले अङ्गों में क्षीणता व शुष्कता पैदा हो जाती है। अतः अधः स्थित अङ्गों के जीवन के लिये प्राणाग्नि के प्रत्या-वर्तन की नितान्त आवश्यकता रहती है। प्रत्या-वर्तन का यह एक सामान्य उद्देश्य है। इसका प्रमुख उद्देश्य तो यह है कि मस्तिष्क ध्यान में ऊर्ध्व में स्थित प्राणाग्नि जो सहस्रगुणित हो गई उसका नीचे अवतरण होना चाहिये जिससे कि नीचे की शक्तियां प्रवृद्ध होवें। इसको यदि हम और अधिक स्पष्ट करें तो यह कह सकते हैं कि ब्रह्मचर्य काल में वीर्य रूपी सोम तथा अग्नि दोनों मस्तिष्क की ओर स्वभावतः गति करती हैं। क्योंकि ब्रह्मचर्य-काल में विद्याध्ययन तथा ब्रह्म का ध्यान करना होता है। इस समय ब्रह्मचारी प्रमुख रूप से मस्तिष्क में ही केन्द्रित रहते है, अतः यह विष्णुक्रमण तथा प्रत्यवरोहण की प्रक्रिया

ब्रह्मचारी में आसानी से घटती है। परन्तु अध्यात्म की गहराई में पहुंच कर यदि इस पर विचार किया जाये तो यह आन्तरिक दिव्य-शक्तियों के विकास की एक प्रक्रिया है। विष्णु के ऊर्ध्वक्रमण में सोम व अग्नि ऊर्ध्व मे मस्तिष्क में पहुंचती हैं और वहां मस्तिष्क गत उखाओं में विद्यमान दिव्य शक्तियों को विकसित करती हैं। वैदिक भाषा में उखा दिव्य शक्तियों के घर है। इन उखाओं में दिव्यशक्तियों को सोम रूप अन्न द्वारा परिपुष्ट कर तथा अग्नि द्वारा परिपक्व कर प्रत्यावर्तन प्रक्रिया द्वारा स्थूलता मे प्रकट किया जाता है। इसप्रकार देवों का उद्बुद्ध होना मस्तिष्क मे सहस्रों दिव्य-शक्तियों का आविर्भाव होना है। इन सहस्रों दिव्य-शक्तियों के प्रभाव से निचले अङ्गों में विद्यमान कामना व वासना प्रधान आसुरी-शक्तियों पर विजय प्राप्त करना प्रत्यावर्तन कहलाता है। प्रत्यावर्तन के समय यह अग्नि सहस्रों दिव्य-शक्तियों के साथ प्रत्यावर्तन करती है। ये सोम आदि देव ऊर्ध्वक्रमण के समय अग्नि में समाविष्ट हो ऊर्ध्व गति करते हैं। परन्तु प्रत्यावर्तन के समय यह अग्नि सहस्रों दिव्य-शक्तियों के सहित पर्जन्य-रूप

को धारण कर बरसती है। श. प. ६।७।३।१ में आता है कि 'प्रत्यावर्तन'१ के समय देवों ने कामना की कि हम पर्जन्य रूप में बरसें। अब हम अग्नि के प्रिय धाम को अवरुद्ध करने वाले 'अक्रन्ददग्नि' मन्त्र तथा प्रत्यावर्तन के चारों मन्त्रों का अर्थ दिखाते हैं।

अक्रन्ददग्निः स्तनयन्निव द्यौः क्षामा रेरिहद्
वीरुधः समञ्जन् । सद्योः जज्ञानो वीहि-
मिद्धो अख्यदा रोदसी भानुना भात्यन्तः।
यजु १२।६

(अग्निः अक्रन्दत्) यह अग्नि पर्जन्य रूप हो इस प्रकार क्रन्दन कर रही है (इव) मानो (द्यौः स्तनयन्) द्युलोक व मस्तिष्क गर्जन कर रहा हो और यह अग्नि वृष्टि रूप में पृथिवी पर आकर (क्षाम आरेरिहत्) पृथिवी को चाटती है।

१. अथैनमिति प्रगृह्णाति । एतद्वै देवा अकामयन्त पर्जन्यो रूप स्यामेति त एतेनात्मना पर्जन्यो रूपमभवस्तथैवैतद् यजमान एतेनात्मना पर्जन्यो रूपं भवति।

इस प्रकार (वीरुधः समञ्जन्) ओषधियों व वनस्पतियों को प्रकट करती है। शरीर में विरोहण करने वाली शक्तियों को अभिव्यक्त करती है। (सद्य:) शीघ्र ही (जज्ञानः) पैदा हो तथा (इद्धः) प्रदीप्त हो (वि अख्यत्) समग्र-शक्तियों को प्रकाशित करती है। (रोदसी अन्तः) द्यावा पृथिवी तथा मस्तिष्क व मन में (भानुना भाति) अपनी ज्योति से चमकती है।

यह उपर्युक्त मन्त्र अग्नि के ऊर्ध्वक्रमण को किस प्रकार अवरुद्ध करने वाला है, विद्वान् लोग विचार करें। अगले चार मन्त्रों द्वारा प्राणाग्नि के प्रत्यावर्तन का विधान हुआ है। मन्त्र इस प्रकार हैं—

अग्नेऽभ्यावर्तिन्नभि मा निवर्तस्वायुषा वर्चसा प्रजया धनेन सन्या मेधया रय्या पोषेण।

——यजु १२।७

(अभ्यावर्तिन् अग्ने) प्रत्यावर्तन व प्रत्यवरोहण करने वाली हे प्राणाग्नि! तू आयु, वर्चस्,

प्रजा, धन, दान, मेधा, रयि तथा पुष्टि से युक्त हो कर (अभि मा निवर्तस्व) हमारी ओर आवर्तन कर ।

अग्ने अङ्गिरः शतं ते
सन्त्वावृतः सहस्रं त उपावृतः ।
अधा पोषस्य पोषेण पुनर्नो
नष्टमा कृधि पुनर्नो रयिमाकृधि ॥

यजु १२।८

हे अङ्गों की रसात्मक प्राणाग्नि! तेरा आवर्तन तथा समीप में पहुचकर आलिङ्गन सैकड़ों व सहस्रों रूपों में हो । आवर्तन द्वारा पुष्टिकारक पोषण रस से हमारी विनष्ट शक्तियों को फिर से उत्पन्न कर और सर्व प्रकार के ऐश्वर्यों को फिर से पूर्ण कर ।

पुनरूर्जा निवर्तस्व पुनरग्न इषायुषा
पुनर्नः पाह्यंहसः ।

यजु १२।९

हे अग्नि ! तू ऊर्ज शक्ति से पुनरावर्तन कर पुनः अन्न व आयु के सहित निवर्तन कर और पुनः हमारी चहुं ओर से रक्षा कर।

सह रय्या निवर्तस्वाग्ने पिन्वस्व धारया।
विश्वप्स्न्या विश्वतस्परि ॥

यजु १२।१०

हे अग्नि ! तू रयि के सहित निवर्तन कर। विश्व के लिये उपभोग्य वृष्टिधारा से सब पर सिञ्चन कर।

ये उपर्युक्त मन्त्र वैष्णव शक्ति के प्रत्यावर्तन के मन्त्र हैं। अग्नि सब शक्तियों के सहित प्रत्यावर्तन करती है। ये मन्त्र बाह्य जगत् तथा अध्यात्म जगत् दोनों में एक समान घटते हैं।

नाभि से ऊपर अग्नि स्थापन का हेतु—

विष्णु क्रमण करने वाले व्यक्ति को इस बात का सदा ध्यान रखना चाहिये कि प्रत्यावर्तन के समय निवर्तन करती हुई प्राणाग्नि को नाभि के ऊपर थामे रक्खे। कहा भी है कि "तमुपावहृत्यो-परिनाभि धारयति" कारण यह है कि नाभि से

ऊपर मनुष्य का शरीर मेध्य माना गया है और नाभि से नीचे अमेध्य। इसलिये बाह्य अग्नि को भी नाभि से ऊपर ही रक्खा जाता है। दूसरा हेतु यह है कि यदि अग्नि को नाभि[१] से नीचे ले आवे तो वह रेतस् को दग्ध कर देगी। क्योंकि प्रत्यावर्तन करती हुई इस अग्नि में दिव्यता व उग्रता होती है अत: देवत्व वाला शारीरिक अङ्ग ही इस दिव्य अग्नि को धारण कर सकता है और वे अङ्ग नाभि से ऊपर ही हो सकते हैं। शास्त्र में आगे यह कहा है कि प्रत्यावर्तन[२] करती हुई इस प्राणाग्नि को नाभि के ऊपर ही थाम कर यह मन्त्रोच्चारण करे—

---

१. नाधोनाभि बिभृयात्। अग्निरस्य रेतो निर्दहेत्। ऊर्ध्वं नाभ्या बिभृयात्। ऊर्ध्वं वै नाभ्याः सदेवम्। अग्निः सर्वाः देवता। सदेव एव देवता बिभर्ति।

कपि ३१।१

२. उपरिनाभि धारयन्नात्वाहार्पमित्यभिमन्त्रयते।

का. १६।४।१६

आत्वाहार्षमिति ।

यजु. १२।११

इस मन्त्र का अर्थ राष्ट्र परक किया जाता है। परन्तु यहां शरीर रूपी राष्ट्र में इसका विनियोग हुआ है। वास्तव में शरीर की 'श्री'[1] दिव्य शोभा ही राष्ट्र मानी गई है। प्राणाग्नि आयु है और यही राजा है। इसकी प्रजा अन्न है जिसका भक्षण कर यह प्रवृद्ध होती है। क्योंकि अग्नि की वृद्धि से शरीर की शोभा बढ़ती है अतः यह प्राणाग्नि 'श्री' भी है। शरीर व अङ्गों की शोभा बनी रहे तो समझो शरीर रूपी राष्ट्र का अंशन नहीं है।

---

१. आयुर्वा अग्निरायुरेवैतदात्मन्धत्त आत्वाहार्षमित्या ह्येनं हरन्ति अन्तरभूः इत्यायुरेवैतदात्मन्धत्ते ध्रुवस्तिष्ठाऽविचाचलि. इत्यायुरेवैतद् ध्रुवमन्तरात्मन् धत्ते विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु-इति अन्नं वै विशोऽन्नं त्वा सर्वं वाञ्छत्वित्येतन्मा त्वद् राष्ट्रमधिभ्रशदिति श्री वै राष्ट्रं मात्वद् श्रीरधिभ्रशदित्येतत् ।

श. प. ६।७।३।७

शतपथ के प्रकरण के अनुसार मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—

(अग्ने) हे प्राणाग्नि, (त्वा आहार्षम्) मैं तुझे यहां लाया हूं (अन्तः भू.) तू शरीर के मध्य मे स्थित हो। (अविचाचलिः) अविचलित होकर (ध्रुवः तिष्ठ) ध्रुव रूप मे स्थित हो (त्वा सर्वाः विशः वाञ्छन्तु) तुझे सब प्रकार के अन्न प्राप्त हों। (त्वद् राष्ट्रं मा अधिभ्रशत्) तुझ से यह श्री (शोभा) भ्रंशित न हो। इस प्रकार यह प्रत्यावर्तन का प्रकरण संक्षेप में हमने प्रदर्शित किया।

वात्सप्र उपस्थान

शास्त्र यह कहते हैं कि विष्णु-क्रमण के अनन्तर वात्सप्र सम्बन्धी उपस्थान भी होना चाहिये। वात्सप्र-उपस्थान क्या है और यह क्यों किया जाता है, इत्यादि विषय विचारणीय हैं। वात्सप्र उपस्थान क्या है? इस सम्बन्ध में हम यहां इतना ही कह सकते है कि यजु. १२।१८-२९ तक के मन्त्र भलन्दन पुत्र वत्सप्री ऋषि द्वारा

दृष्ट है, इन मन्त्रों में जो उपस्थान रूपी रहस्य निहित है उसे ही वात्सप्रोपस्थान संज्ञा दी गई है। भलन्दन और वत्सप्री का आध्यात्मिक गुह्य भाव क्या है, यह हमें अभी स्पष्ट नहीं हुआ है। परन्तु वात्सप्रोपस्थान क्यों किया जाता है, इस सम्बन्ध में कुछ विचार प्रस्तुत करते हैं।

शास्त्रकार कहते हैं कि यदि यजमान विष्णु-क्रमण ही करता जाये और वात्सप्रोपस्थान न करे तो यह ठीक नहीं है। जहां क्रमण किया जाता है वहां उपस्थान अवस्थिति भी अवश्य होनी चाहिए। क्योंकि उपस्थान से ही वह स्थान व वस्तु अपनी बनती है। शत्रु-भूमि पर विजय तो प्राप्त कर ली पर कुछ काल पर्यन्त वहां रुक कर स्वानुकूल प्रबन्ध व शासन की व्यवस्था न की तो वह शत्रु-स्थान हाथ से जाता रहेगा। यह तथ्य शत्रु-विजय, नवनिर्माण आदि विष्णु-क्रमण के सभी क्षेत्रों में घटित होता है। अब हम वात्सप्रोप-स्थान पर शास्त्र प्रमाण द्वारा विचार करते हैं और यह देखते हैं कि वात्सप्रोपस्थान से क्या-क्या उपलब्धि होती है और किस-किस क्षेत्र में यह घटित होता है।

शतपथ ब्राह्मण[1] में आता है कि प्रजापति ने विष्णु-क्रमण द्वारा प्रजाओं का सर्जन किया तो उन प्रजाओं को आयुष्य की उपलब्धि वात्सप्रोप-स्थान द्वारा हुई । वात्सप्रोपस्थान 'दाक्षायण-हस्त[2] अर्थात् दक्षता से परिपूर्ण एक चमत्कारिक हाथ है जिसके स्पर्शमात्र से सम्पूर्ण आयु की प्राप्ति होती है । प्रजापति ने विष्णु-क्रमण द्वारा जिन तत्त्वों की सृष्टि की, उनको चिरस्थायी बनाने व उनके दीर्घायुष्य के लिए भी कुछ शक्तियों का सर्जन किया । उन तत्त्वों के दीर्घायुष्य की हेतुभूत

---

१ एतद्वै प्रजापति विष्णुक्रमैः प्रजाः सृष्ट्वा ताभ्यो वात्सप्रेणायुष्यमकरोत् ।

—श. प ६।७।४।१

२ स हैष दाक्षायणहस्तः यद् वात्सप्र तस्माद् य जात कामयते सर्वमायुरियादिति वात्सप्रे-णैनमभिमृशेत्तदस्मै जातायायुष्य करोति तथो ह स सर्वमायुरेति ।

—श प. ६।७।४।२

शक्तियां वात्सप्रोपस्थान से उत्पन्न होती है । उदाहरणार्थ यदि हम पृथिवी को लें तो इसके स्थायित्व के लिए प्रजापति ने जिस प्रक्रिया द्वारा अग्नि का सर्जन किया और उसे पृथिवी से सयुक्त किया वह प्रक्रिया वात्सप्रोपस्थान है, ऐसा हमें समझना चाहिए। एक राजा दूसरे देश पर अभियान करता है और विजयोपलब्धि के पश्चात् अभियान को समाप्त कर और वहां के शासन को सुव्यवस्थित व दृढ़ करता है तो इसमें काल का व्यवधान स्पष्ट प्रतीत होता है । परन्तु भगवान् की सृष्टि में वस्तुओं के उत्पन्न होने तथा स्थायित्व देने वाली शक्तियों की उत्पत्ति में काल का व्यवधान इतना सूक्ष्म हो सकता है, जिस का कि मनुष्य को भान तक न हो । परन्तु इन दोनों प्रक्रियाओं मे हमें पूर्वापर भाव अवश्य देखना चाहिए । इसी प्रकार विष्णु-क्रमण द्वारा उत्पन्न सृष्टि के तत्वों तथा उनको स्थायित्व प्रदान करने वाली शक्तियों को हमें देखना चाहिये । श. प. ६।७।४ में विष्णु-क्रमण तथा वात्सप्रोपस्थान द्वारा उत्पन्न कुछ सृष्टितत्व व शक्तियां इस प्रकार परिगणित हुई हैं।

विष्णु-क्रमण		वात्सप्रोपस्थान
१	पृथिवी	अग्नि
२	अन्तरिक्ष	वायु
३	द्यु	आदित्य
४	दिशा	चन्द्रमा
५	भूत	भविष्यत्
६	वित्त	आशा
७	अहन्	रात्रि
८	पूर्व पक्ष	अपरपक्ष
९	अर्द्धमास	मास
१०	ऋतु	संवत्सर
११	योग	क्षेम

इस प्रकार उपर्युक्त तत्व व शक्तियां प्रजापति ने विष्णु-क्रमण और वात्सप्र द्वारा उत्पन्न कीं। इसी भांति मनुष्य भी अपनी देव-शक्तियों का सर्जन व उन पर स्वामित्व कर सकता है।

वात्सप्र—अवसान

वात्सप्र अवसान का भी सूचक है। शास्त्र में आता है कि प्रजापति[१] ने विष्णु-क्रमण द्वारा

---

१. विष्णुक्रमै र्वै प्रजापतिः स्वर्गं लोकमभिप्रायात्

स्वर्ग लोक में प्रयाण किया तो वात्सप्र द्वारा क्रमण का अवसान भी किया। वह इसलिये कि प्रयाणशील व गतियुक्त वस्तु का यदि गति-विमोचन न करें तो कुछ काल पश्चात् वह वस्तु दग्ध व विनष्ट हो जायगी। इसलिये प्रयाण के पश्चात् अवसान व विमोचन अत्यावश्यक है। विष्णुक्रमण१ दैव-प्रयाण है और वात्सप्रोपस्थान दैव-विमोचन व दैव-अवसान है। ये परिभाषाएं दैव क्षेत्र की परिभाषाएं हैं, इनका मनुष्य की गति व उसके अवसान के लिये प्रयोग नहीं होता है। हां, इसी की अनुकृति से मानुष-प्रयाण व विमोचन हो सकता है। उपस्थान इसलिये भी आवश्यक है कि विष्णुक्रमण द्वारा यह अग्नि लोकों को अतिक्रान्त

स एतदवमानमपश्यत् वात्सप्र तेनावास्यद-प्रदाहाय यद्धि युक्तं न विमुच्यते प्र तद् दह्यते। श. प ६।७ ४।८

१ विष्णुक्रमै र्वा एष प्रयाति वात्सप्रेणावस्यति इति न तथा विद्याद्दैव वा अस्य तन् प्रयाण यद्विष्णुक्रमा. दैवमवसान यद्वात्सप्रमथास्येद मानुष प्रयाण यदिद प्रयाति मानुषमवसान यदवस्यति।

कर जाती है इससे वे लोक अग्नि के अभाव मे क्षीण-शक्ति व लघु[1] हो जाते हैं। अत. इन लोकों की शक्ति को बनाये रखने के लिये शास्त्रों में उपस्थान की आवश्यकता दर्शायी है परन्तु उपस्थान के समय यह ध्यान देने की बात है कि समीपस्थ होने के कारण वह अग्नि उन लोकों को दग्ध व भस्म[2] न करने पावे।

वात्सप्र में समूहभाव

विष्णुक्रमण में एक-एक करके विजय प्राप्ति

१. अथैनमुपतिष्ठते एतद्वा एनमेतल्लघूयतीव यदेनेन सहेति चेति चेमाल्लोकान् क्रमते तस्मा एवैतन्निह्नुतेऽहिंसायै।

श प. ६।७।४।१३

२. एतद्वै देवा अबिभयुर्यद्वै नोऽयमिमांल्लोकानन्तिकान्न हिस्यादिति तदेभ्य एवैनमेतल्लोकेभ्योऽशमयस्तथैवैनमयमेतदेभ्यो लोकेभ्यः शमयति।

श. प. ६।७।४।१४

है तो वात्सप्र में समूहभाव है, युगपत् ग्रहण है। युगपत्-ग्रहण और अयुगपत्-ग्रहण, समूह-भाव तथा पृथक्-भाव इनके फल पृथक्-पृथक् हैं। सांसारिक व्यवहार में तो हम इस तथ्य को देखते ही हैं पर शास्त्रों में उपस्थान सम्बन्धी मन्त्र के युगपत् ग्रहण के सम्बन्ध में जो कहा है, हम उस पर विचार करते हैं। तै. स. ४।२।३ के सायणभाष्य में निम्न पंक्तियां आती हैं—

'दिवस्परीत्येकादशभिर्द्वादशभिस्त्रयोदशभिर्वा वात्सप्रेणोपतिष्ठते पूर्वेद्यु विष्णुक्रमान् क्रामत्युत्तरेद्युरुपतिष्ठते एवं सदा कुर्याद् यदह सोमं क्रीणीयात् तदहरुभयं समस्येत् प्र च क्रामेदुप च तिष्ठति।'

दिवस्परि० आदि ११, १२ व १३ मन्त्रों द्वारा वात्सप्र उपस्थान करे अर्थात् पूर्व दिन विष्णुक्रमण करे तो द्वितीय दिन उपस्थान करे, इस प्रकार सदा किया करे। जिस दिन सोम का क्रय करे उस दिन से लेकर इन दोनों क्रियाओं को क्रम से करता जावे।

११ मन्त्रों के इस समूह को स्तोम कहा गया है और इस स्तोम को एक इकाई माना गया है। तै. सं. ५।२।१ में आता है कि—

'एकादशं भवत्येकधैव यजमाने वीर्यं दधाति, एकधैव युगपदेव समूहस्य युगपत् प्रवृत्तत्वात्।'

अर्थात् यह ११ मन्त्रों की एक इकाई युगपत् प्रवृत्त होकर यजमान में एकधा ही वीर्य धारण कराती है। इस प्रकार इन ११ मन्त्रों को १ मन्त्र के रूप में समझ कर इनके प्रयोग का विधान हुआ है। इन ११ मन्त्रों को पृथक्-पृथक् छन्द रूप में ग्रहण करने तथा समूह रूप में एक इकाई मान कर ग्रहण करने के फल भी शास्त्रों में पृथक्-पृथक् बताये गये हैं। यथा—

स्तोमेन वै देवा अस्मिल्लोक आर्ध्नुवन् छन्दोभिरमुष्मिन् स्तोमस्येव खलु वा एतद् रूपं यत् वात्सप्रं यद्वात्सप्रेणोपतिष्ठत इममेव तेन लोकमभिजयति यद् विष्णुक्रमान् क्रमतेऽमूमेव तैर्लोकमभिजयति।'

अर्थात् स्तोम (स्तुतिहेतु मन्त्रसमूहः) इस लोक में ऋद्धि का कारण बनता है और पृथक्-पृथक् छन्द ऊर्ध्व लोक की ऋद्धि के कारण होते हैं। यह वात्सप्र स्तोम का रूप है। अत. यह वात्सप्रस्तोम इस लोक की ऋद्धि करने वाला है। वात्सप्र से इस लोक की तथा विष्णु-क्रम से उस लोक की विजय होती है। इससे परिणाम यह निकला कि वात्स-प्रोपस्थान मे इन ११ मन्त्रों को पृथक्-पृथक् मन्त्र के रूप मे न ग्रहण कर एक ही मन्त्र या मन्त्र-समूह रूप मे एक इकाई माननी चाहिये। इसी भांति कई-कई मन्त्रों को एक मन्त्र मानना ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेकों स्थलों पर आता है। अग्नि-होत्र में भी समिधाधान के दो मन्त्रों को एक मन्त्र बनाया गया है।

योग और क्षेम

विष्णुक्रमण और वात्सप्र ये दोनों आधुनिक भाषा में योग और क्षेम के भी वाचक हैं। तै सं ५।२।१ में कहा है कि—

'पूर्वेद्यु प्रक्रामत्युत्तरेद्युरुपतिष्ठते तस्माद् योगेऽन्यासां प्रजानां मनः क्षेमेऽन्यासां तस्माद् यायावरः क्षेम्यस्येशे तस्माद् यायावरः क्षेम्यमध्यवस्यति ।'

पहिले दिन विष्णुक्रमण होता है तो दूसरे दिन उपस्थान । क्रमण में गति है तो उपस्थान में अवसान है। इसी प्रकार समग्र प्रजाओं को हम इन दो विभागों में विभक्त कर सकते है । एक वे है जिनका योग व संग्रह करने मे ही मन रहता है । रात दिन संग्रह करने को ही धुन है । इसके विपरीत कुछ व्यक्ति इस प्रकार के होते है कि वे क्षेम अर्थात् उपलब्ध वस्तु को बनाये रखने में ही कल्याण समझते हैं । ऐसे क्षेम-शाली व्यक्तियों को यायावर कहा गया है अर्थात् वे प्रयाणशील हैं, आयु के अवसान के समय ही ये विचार उद्बुद्ध होते हैं । परलोक गमन की तैयारी में जो संलग्न हैं वे क्षेम को ही अपने लिए उचित समझते हैं । शास्त्रकार कहते हैं कि विष्णु-क्रमण१ और वात्सप्र

---

१ विष्णुक्रमान् क्रान्त्वा वात्सप्रमन्ततः कुर्यान्नि

में अन्तिम वात्सप्र ही है । अतः वात्सप्र से ही समाप्ति होनी चाहिए क्योंकि यह प्रतिष्ठा है स्थिति स्थान है। विष्णु-क्रमण लोकादि का जनक है तो वात्सप्र आयुष्य है । परन्तु हमें यह अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि ये परिभाषाएँ देवी हैं मानव नहीं । अत एव आध्यात्मिक क्षेत्र में ये आन्तरिक गतियां व अवसान के सूचक है।

विष्णु और आतिथ्येष्टि
(सोम राजा का आतिथ्य)

वैदिक-साहित्य में विष्णु और आतिथ्य१ नामक इष्टि का घनिष्ठ सम्बन्ध बताया गया है।

विष्णुक्रमान् अन्ततः कुर्याद् यथा प्रयाय न विमुञ्चेत् तादृक् तदथ यद्वात्सप्रमन्ततः करोति प्रतिष्ठा वै वात्सप्र यथा प्रतिष्ठापयेदवसाय-येत्तादृक् तस्माद् वात्सप्रमेवान्ततः कुर्यात् ।
—श. प. ६।७।४।१५

१ अथ यदातिथ्यया यजन्ते विष्णुमेव तद् देवं देवतां यजन्ते । –श प.१२।१।३।४, गो.१।४।८

वहां आता है कि आतिथ्य नामक इष्टि से यजन करना विष्णु का ही यजन करना है। अतः विष्णु के प्रसंग में आतिथ्य पर भी विचार करना आवश्यक हो जाता है।

आतिथ्य-इष्टि

ज्योतिष्टोम[१] याग के समय सोम को क्रय कर और उसे शकट पर रख कर प्राचीन वंश नामक शाला की ओर लाते हैं जहां कि इसे अतिथि मान कर इसका आतिथ्य सत्कार किया जाता है। यह सत्कार सम्बन्धी तात्कालिक समग्र विधि आतिथ्येष्टि नाम से कही जाती है।

प्राचीन वंश और क्रीत सोम का प्रयाण

क्रीत सोम को शकट पर रख कर प्राचीन

१ आतिथ्या नाम इष्टिः ज्योतिष्टोमे क्रीतं सोम शकटे अवस्थाप्य प्राचीनवंश प्रति आनयने सोमसत्कारार्थं यामिष्टिं निर्वपति सेयमातिथ्या। मीमांसा कोषः।

वंश नामक शाला की ओर ले जाते हैं। अध्यात्म क्षेत्र में सोम का स्वरूप क्या है और इसके क्रय का क्या तात्पर्य है, इत्यादि विषय को हम आगे स्पष्ट करेंगे। यहां इतना ही कहना है कि सोम का क्रय करना एक आध्यात्मिक प्रक्रिया का आलंकारिक वर्णन है। आध्यात्मिक-क्षेत्र में सोम रूप वीर्य के अध पतन न होने, उसको भोग-विलास से विरत करने तथा उसके ऊर्ध्वारोहण की ये प्रक्रियाएं हैं। अस्तु, बाह्य कर्मकांड में यह प्राचीन१ वंश देव यजन नामक एक विशिष्ट शाला है जिस का पृष्ठवंश पूर्व दिशा की ओर फैला होता है। पूर्व दिशा क्योंकि देवों की दिशा मानी जाती है अतः पूर्व दिशा की ओर प्रसृत यह शाला देव यजन नाम से प्रसिद्ध है। कहा भी है—

प्राचीनवंशं कुर्वन्ति प्राची वै देवानां दिक्
देवलोकमेवोपावर्तते पुर आदित्योऽसा

१ प्रागायतः पृष्ठवंशो यस्य गृहविशेषस्य स प्राचीनवंश. यस्य मण्डपविशेषस्योपरि वंशाः प्रागग्राः भवन्ति स प्राचीनवंशः।
—तै. स सायणाभष्य १।२।१

अमुमेवादित्यमुपोत्क्रामति ।
—काठ स. २२।१३

इस प्राचीनवंश नामक शाला में देवों का यजन कर यजमान देवलोक मे पहुंचता है, ब्रह्मांड में वह देवलोक यह सामने विद्यमान आदित्य ही है।

अध्यात्म में प्राचीन वंश

अध्यात्म में प्राचीन वंश व देवयजन शाला सिर है। यहां सोम रूप विष्णु का आतिथ्य[१] सत्कार किया जाता है। सिर की पूर्व दिशा में विद्यमान आंख, नाक, कान व मुख आदि अवयव देवों के यजन स्थान हैं। अथवा यह भी कह सकते हैं कि शिरस्थ ऐन्द्रियिक केन्द्र देव-यजन के स्थान हैं परन्तु इन केन्द्रों से इन्द्रियदेवों का प्रवाह व विस्तार पूर्व की ओर फैला हुआ है (प्रागायत.)

---

१ शिरो वा एतद् यज्ञस्य यदातिथ्यम् ।
—श. प. ३।२।३।२०, ऐ. १।१७।२५, कौ. ८।१

इसका तात्पर्य यह हुआ कि सिर के केन्द्रों से पूर्व दिशा अर्थात् इन्द्रिय गोलकों तक विस्तृत नाड़ी-मण्डल (Nervous system) देवयजन व प्राचीन वंश नामक स्थान है। आधुनिक शारीर-वेत्ताओं ने भी मस्तिष्क के भाल-पटल की ओर ही शक्तियों का निवास स्थान माना है। आध्यात्मिक-क्षेत्र की प्राचीन वंश शाला यही है, ऐसा हम समझ सकते है।

आतिथ्य-कर्म

ये सोम और अग्नि ऊर्ध्वारोहण द्वारा जब सिर की ओर प्रयाण करते हैं तब ये विष्णु-कोटि में आ जाते हैं यह हम विष्णु पर लिखते हुए पूर्व में दर्शा चुके है। एतरेय ब्राह्मण[१] में आता है कि

---

१ हविरातिथ्यं निरूप्यते सोमे राजन्यागते सोमो वै राजा यजमानस्य गृहानागच्छति तस्मा एतद्धविरातिथ्यं निरूप्यते तदातिथ्यस्यातिथ्यत्वम्।

—ऐ. ब्रा. १।१५

जब किसी अभिभावक के घर पर मानव राजा व कोई आदरणीय व्यक्ति पहुंचता है, तब उसका राजोचित सत्कार किया जाता है । उसी प्रकार इस सोम राजाके भी सिरमें पहुंचने पर तत्तुल्य ही आतिथ्य-सत्कार किया जाता है, यही आतिथ्य का आतिथ्यत्व है। अतः क्रीत सोम१ जब अतिथि बन कर मस्तिष्क मे पहुंचता है तो इस कर्म को आतिथ्य-कर्म कहते हैं । जिस प्रकार आतिथ्य-सत्कार२ में राजा के साथ राजा के अनुचर होते हैं उसी प्रकार सोम राजा के आतिथ्य में भी उस

---

१ अथ, यस्मादातिथ्यं नाम । अतिथि र्वा एष एतस्यागच्छति यत् सोमः क्रीतः ।

श. प. ३।४।१।२

२ यावद्भि र्वै राजाऽनुचरैरागच्छति सर्वेभ्यो वै तेभ्य आतिथ्यं क्रियते छन्दांसि खलु वै सोमस्य राज्ञोऽनुचराणि० । तै० ब्रा० ६।२।२।१ तस्य छन्दांसि अभितः साचयानि यथा राज्ञो राजानो राजकृतः सूतग्रामण्य एवमस्य छन्दांसि अभितः साचयानि ।

श. प. ३।४।१।७, काठ. २४।८

के अनुचर साथ-साथ जाते है । सोम राजा के ये अनुचर छन्द हैं । गायत्री त्रिष्टुप् आदि छन्दों को साथ लिए हुए यह सोम सिर में पहुंचता है । सोम का मस्तिष्क की ओर प्रस्थान करना तथा मस्तिष्क में आतिथ्य सत्कार का होना शाखा संहिताओं तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों में विस्तार से प्रदर्शित किया गया है । उदाहरणार्थ काठक संहिता के तत्सम्बन्धी प्रकरण को हम यहां प्रस्तुत करते हैं—

इस पुण्यशाली[१] सोम राजा के जितने अनुचर साथ जाते हैं उन सभी का आतिथ्य-सत्कार किया जाता है । इस क्रीत सोम के अनुचर छन्द हैं । इस सोम के लिए यज्ञार्थ हवि प्रदान के समय निम्न मन्त्र बोले जाते हैं ।

१ उदरस्थ अग्नि (गायत्री) के लिए हवि — 'अग्ने तनुरसि विष्णवे त्वा'

---

१ यावन्तो वै पुण्यमन्वायन्ति सर्वेभ्यस्तेभ्य आतिथ्यं क्रियते छन्दांसि सोमं राजानं क्रीतमन्वायन्ति० ।

—काठ, २४।८

हे हवि ! तू अग्नि का तनु है, तुझे विष्णु के लिए प्रदान किया जाता है।

२ हृदयस्थ त्रिष्टुप् के लिए हवि—

'सोमस्य तनुरसि विष्णवे त्वा'

हे हवि ! तू सोम का तनु है, तुझे विष्णु के लिए दिया जाता है।

३ शिरस्थ जगती के लिए हवि—

'अतिथेरातिथ्यमसि विष्णवे त्वा'

हे हवि ! तू सोम का रूप अतिथि की आतिथ्य सामग्री है तुझे विष्णु के लिए दिया जाता है।

४ मुखस्थ अनुष्टुप् के लिए हवि—

'अग्नये त्वा रायस्पोषदे विष्णवे त्वा'

हे हवि ! तुझे ऐश्वर्य का पोषण करने वाली अग्नि के लिए तथा विष्णु के लिए दिया जाता है।

५ गायत्री (पुनर्यामिणी)—

'श्येनाय त्वा सोमभृते विष्णवे त्वा'
हे हवि ! तुझे सोमाहरण करने वाले श्येन (गायत्री) के लिए तथा विष्णु के लिए दिया जाता है ।

इस प्रकार यह सोम (वीर्य) रूप हवि शरीर व प्राण आदि की उन-उन परिधियों (छन्दों) को स्व-स्व भाग प्रदान करता जाता है । अर्थात् उन्हें वीर्यवान् व शक्तिशाली बनाता जाता है । कहा भी है—

'छन्दांस्येव भागधेयवन्ति करोति पञ्च-कृत्वो निर्वपति पांक्तो यज्ञः' ।

यहां गायत्री को दो बार ग्रहण किया गया है एक तो सोम के ऊर्ध्वारोहण के समय गायत्री का प्रयोग होता है और दूसरे उस के अवतरण के समय । यह सोम ऊर्ध्वारोहण द्वारा मस्तिष्क में पहुंच कर दिव्य व प्रकाशित रूप को धारण करता है । तदनन्तर पुनः गायत्री रूप श्येन के प्रभाव से वह सोम शरीर के अधःस्थित अंगों में अवतरण

करता है । इसीलिए पुनः प्रयोग के कारण यहां गायत्री को 'पुनर्याम्णी१' कहा गया है । मै. सं. ३।७।६ में सोम२ व अग्नि के आतिथ्य का प्रयोजन यह दिया है कि 'यज्ञ के लिए अथवा क्रीत सोम के लिए देवता को उत्पन्न करते हैं और दूसरे तेज को उत्पन्न करते हैं । तीसरे उपसदों अर्थात् ग्रीवा में स्थित प्राणों के अन्दर वीरत्व को पैदा करते है । इसका तात्पर्य यह हुआ कि आतिथ्य क्रिया मे देवत्व को उत्पन्न करना, सोमरस को तेजस्वी बनाना और ग्रीवास्थ प्राणों में वीरत्व को पैदा करना अर्थात् वाक् को ओजस्वी

१ गायत्री वा एतमाहरदमुष्माल्लोकात् तस्मात् सा पुनर्याम्णी तस्मात् पुनः प्रयुज्यते । काठ २४।८, गायत्री वै श्येनः सोमभृत् तां वा एतत् पुनरालभते । —मै. सं. ३।७।६

२ अथो यज्ञाय वा एतत् क्रीताय देवतां जनयन्त्यथो तेज एवास्मै जनयन्त्यथो उपसत्सु वावास्मा एतद् वीरं जनयन्ति ।
—मै सं. ३।७।६

बनाना होता है । यह सब वीर्य रूपी सोम के ऊर्ध्वारोहण का प्रभाव है ।

छन्द आदि अनुचरों को साथ लिए हुए यह सोम जब सिर की ओर प्रयाण करता है तब सिर रूपी हविर्धान के द्वार पर द्वारपाल[१] के रूप में विराजमान विष्णु से उसकी भेंट होती है । वह विष्णु सोम के प्रवेश के लिए हविर्धान के द्वार को उद्घाटित करता है और अन्दर प्रविष्ट हो कर यह सोम पूर्णतया विष्णु रूप को धारण कर लेता है । सिर रूपी हविर्धान का द्वार कण्ठ[२] में है और यहीं विष्णु की स्थिति है अथवा यह भी कह सकते है कि कण्ठ से विष्णु का क्षेत्र प्रारम्भ हो जाता है । अब प्रश्न यह है कि वह

---

१ 'व्रज च विष्णु· सखिवान् अपोर्णुते' विष्णु वैं देवानां द्वारप. स एवास्मा एतद् द्वार विवृणोति । —ऐ. ब्रा. १।१।३०

२ कण्ठमष्टाङ्गुलं विद्धि विष्णुस्तत्र व्यवस्थितः । स्वच्छन्द तन्त्र, ४ पटल, ३४४ श्लोक । उकारो विष्णुवाचक. कण्ठे त्यागो भवेत् तस्य । ४ पटल, २६३ श्लोक ।

सोम राजा हविर्धान के द्वार को जब लांघ जाता है तब उसका आतिथ्य तथा अगवानी किस स्थान पर की जाती है ?

आतिथ्य में अगवानी का स्थान

सोम राजा का आतिथ्य तथा अगवानी किस स्थान पर करनी होती है, इस सम्बन्ध में भी शास्त्रों मे विचार किया गया है। श.प.३।४।१।३ में आता है—

'तदाहुः पूर्वोऽतीत्य गृह्णीयादिति यत्र वा अर्हन्तमागतं नापचायन्ति ऋध्यति वै स तत्र तथा ह्यपचितो भवति'।

अर्थात् सोम राजा के आने से पूर्व अगवानी के स्थान पर पहुंच कर राजा का स्वागत करे क्योंकि पूजनीय व्यक्ति की यदि अगवानी न की जाय तो वह क्रुद्ध हो जाता है। अतः विचारणीय यह है कि वह अगवानी का स्थान कौन-सा है ? इस सम्बन्ध में शास्त्रों में आता है कि सोम की

अगवानी का स्थान सिर में इडा के अन्त१ में है और वह सिर का पूर्वार्द्ध२ है अर्थात् सोम राजा के आतिथ्य में सिर का पूर्वार्द्ध ग्रहण करना होता है और सिर के पूर्वार्द्ध में भी इडा का अन्त ग्रहण करना आवश्यक है। अब प्रश्न यह है कि इडा क्या है? और उसका अन्त सिर में कहां पर है? इस सम्बन्ध में एक व्याख्या यह भी है कि इडा नामक नाड़ी जो कि सुषुम्णा-मूल से शरीर के वामपार्श्व से होती हुई सिर में वामनासिका३

१ तदिडान्तं भवति। श. प. ३।४।१।२६, इडान्तेन वा एतेन देवा अराध्नुवन् यदातिथ्य तस्मादिडान्तमेव कर्तव्यम्।

--ऐ ब्रा. १।१।१७

२ शिरो वै यज्ञस्यातिथ्य पूर्वार्धो वै शिर पूर्वार्धमेवैतद् यज्ञस्याभिसंस्करोति।

श. प. ३।४।१।२६

३ वामघ्राण गता नाडी इडा नाम्नेति विश्रुता।

--अहि र्बुध्न्य संहिता।

इडा समुत्थिता कन्दाद् वामनासापुटावधि।

--त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषत्।७।

तक पहुचती है, वहाँ इडा का अन्त है ऐसा प्राचीन ग्रन्थों में कहा गया है। इडा में सोम का निवास१ है। इडा द्वारा प्राण जब कुण्डली स्थान में पहुंचता है तब यह सोम का ग्रहण माना गया है। शरीर के वाम-पार्श्व से इडा की गति है। यह वाम-पार्श्व उत्तर-दिशा कही जाती है। इस उत्तर दिशा का अधिपति सोम है ऐसा वेद में आता है। इडा का देवता हरि अर्थात् विष्णु२ है। यह सोम इडा द्वारा ऊर्ध्वारोहण कर जब वामनासिका में पहुंचता है तब वहां उसका आतिथ्य होता है। उसके आतिथ्य का स्वरूप क्या है यह अनुभूति का विषय है। श. प. ३।४।१।२६ में इडान्त का जो स्वरूप दर्शाया है उससे भी उप-

---

१. इडा च वामनिश्वास सोममण्डलगोचरा।
—शब्द कल्पद्रुम।

इडया कुण्डलीस्थान यदा प्राण समागत
सोमग्रहणमित्युक्तम्। —दर्शनोपनिषत्।

इडायां वर्तते चन्द्रः (सोम.)—अहिर्बुध्न्यसंहिता।
उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः। —वेद।

२. इडायाः देवता हरिः।—दर्शनोपनिषत् ४।३५

र्युक्त व्याख्या की पुष्टि होती है। वहां आता है कि यज्ञ१ में सोम व अग्नि के आतिथ्य का स्थान सिर का पूर्वार्द्ध होता है और उसमें अनुयाजों का यजन व मेल नहीं होता है । यदि कोई सोम के इस आतिथ्य कर्म मे अनुयाजों का यजन करता है तो उसका वह कर्म उसी प्रकार का है जिस प्रकार कि कोई पैरों को उठाकर सिर पर रख देवे । इस प्रकार इडान्त सिर के पूर्वार्द्ध का हिस्सा है जो कि भाल-पटल कहा जा सकता है । यह सिर का पूर्वार्द्ध ही सोम व अग्नि के आतिथ्य का स्थान है ।

एक अन्य दृष्टि से भी इडान्त का निर्णय हो सकता है और वह यह कि कई स्थलों पर इडा को 'भूवाक्' अर्थात् पृथिवी की वाक् कहा गया है । पृथिवी की वाक् का तात्पर्य अध्यात्म क्षेत्र मे स्थूल शरीर व प्राणादि की चेतना, उनकी कामना

---

१. तदिडान्तं भवति । नानुयाजान् यजन्ति शिरो वै यज्ञस्यातिथ्य पूर्वार्धो वैशिर. पूर्वार्धमेवैतद् यज्ञस्याभिसस्करोति स यद्धानुयाजान् यजेद् यथा शीर्षतः पर्याहृत्य पादौ प्रतिदध्यादेव तत् । —श. प ३।४।१।२६ ।

व वासना आदि से है । हमारे शरीर में यह पार्थिव चेतना, कामना, वासना, इच्छा, बुभुक्षा आदि रूपों मे प्रकट होती है । इन सबका अन्त होना इडान्त कहा जा सकता है । हमारे इस स्थूल शरीर में वह स्थान जहां कि कामना व वासना आदि का अन्त हो जाता है वह ललाट है। यहीं शिव का तृतीय नेत्र है जिसके खुलने से कामदेव भस्म हो जाता है । इस दृष्टि से भी 'इडान्त' अर्थात् इडा का अन्त सिर के पूर्वार्द्ध में है। एक और दृष्टि से भी इडान्त का निर्णय किया जा सकता है और वह इस प्रकार कि इडा अन्न का नाम है । अन्न का स्थान उदर है । अतः शास्त्रो में इडा रूपी अन्न के स्थिति स्थान उदर को ही इडा कह दिया है ।

उदरमेवास्येडा . . , ।

——श प. ११।२।५।

इस दृष्टि से इडान्त वह स्थान माना जायगा जहां कि उदर का अन्त हो जाता है । एक प्रकार से वह नाभि से ऊर्ध्व का स्थल हो सकता है और नाभि से ऊर्ध्व के प्राण प्रयाज कहलाते हैं और

नाभि से नीचे के (मूत्र्यः पुरीष्यः) मल-मूत्र सम्बन्धी प्राण अनुयाज होते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सोम के आतिथ्य सत्कार में शरीरस्थ ६ प्राणों में से मल-मूत्र वाले दो अनुयाज प्राणों को यहां यजन नहीं होगा, अर्थात् सोम के आतिथ्य सत्कार मे इन दो अनुयाज प्राणों का बहिष्कार करना पड़ेगा। इन प्रयाज और अनुयाज प्राणों पर हमने आगे विस्तार से विचार किया है अतः इनके स्पष्टी-रण में यहां और अधिक लिखना उपयुक्त नहीं है। कहने का तात्पर्य इतना ही है कि शास्त्रों में 'इडान्त' उदर का अन्त अन्न का अन्त आदि भी माने गये हैं। अब प्रश्न यह पैदा होता है कि इडान्त से उदर का अन्त अर्थात् नाभि-स्थल लेवें या नासिका-स्थल लेवे। हमारे विचार में यहां इस आतिथ्येष्टि मे इडान्त ऊर्ध्व में नासिका का स्थल ही लिया जायेगा। वह इस प्रकार कि उदर पृथिवी स्थानीय है और पृथिवी गन्धवती मानी जाती है। गन्ध ग्रहण का स्थान नासिका है। अतः हम यह कह सकते हैं कि नासिका तक गन्धवती पृथिवी अर्थात् उदर का प्रभाव क्षेत्र है। इस दृष्टि से भी इडान्त नासिका

स्थल हो जाता है । स्थूल-दृष्टि से वह स्थल ललाट में है और यहीं सोम व अग्नि का आतिथ्य होता है। अन्त मे इस सम्पूर्ण प्रकरण का यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि शरीर के वाम भाग मे विद्यमान सुषुम्णा-काण्ड के साथ-साथ चलने वाली इडा नाड़ी जो कि वाम-नासिका के ऊर्ध्व-केन्द्र ललाट में समाप्त होती है, उसके द्वारा सोम का ऊर्ध्वारोहण करना चाहिये और ललाट मे सोम के आने पर नाभि से ऊपर के प्राणों का ललाट में केन्द्रीयकरण करना चाहिये, इस प्रकार यह सोम राजा की अगवानी व आतिथ्य कर्म होगा। इसमे क्या विशिष्ट प्रक्रिया व साधना का अवलम्बन करना होगा यह योग के जिज्ञासुओं के लिये विचारणीय है।

अग्नि का आतिथ्य

पूर्व में हमने सोम राजा के आतिथ्य के सम्बन्ध मे विचार किया अब हम अग्नि के आतिथ्य के सम्बन्ध मे भी कुछ विचार प्रस्तुत करते है। जिस प्रकार सोम का आतिथ्य किया जाता है उसी प्रकार अग्नि का भी आतिथ्य होता है। परन्तु दोनों के आतिथ्य में कुछ भिन्नता है। अग्नि के

आतिथ्य में यह करना होता है कि पूर्व विद्यमान अग्नि को मन्थन[१] के द्वारा पहले प्रज्वलित किया जाता है तदनन्तर सिर में विद्यमान आहवनीयाग्नि मे उसका प्रहार होता है। अथवा यह भी कह सकते है कि मन्थन के द्वारा एक अन्य दिव्य-अग्नि उत्पन्न हो जाती है और फिर उसका आहवनीयाग्नि[२] में प्रहार होता है। इस प्रज्वलित व दिव्य अग्नि का शिरस्थ आहवनीय मे प्रहार इस प्रयोजन से किया जाता है कि जिससे सिर मे विद्यमान दिव्य शक्ति के विभिन्न केन्द्रों पर आये हुए मलावरण भस्म हो जाये। शास्त्रों मे यह

---

१ आतिथ्येऽडान्ता तस्यायमग्निमन्थनम्।
 --आश्व. श्रौ सू.
 अग्निमातिथ्ये मन्थन्ति। --ऐ ब्रा ३।४०

२ यदग्नावग्निं मथित्वा प्रहरति तेनैवाग्नय: आतिथ्यं क्रियते। --तै स. ६।२।१।७
 यो वा अग्नावग्नि: प्रह्रियते यश्चसोमो राजा तयोरेष आतिथ्यम्। --तै स ७।५।१५।१
 अग्निं मथित्वाऽऽहवनीये प्रहरेत्तदिदमाहवनीयाग्नेरातिथ्यम्।

आता है कि अग्नि में सब देवता विद्यमान होते हैं (अग्निः सर्वाः देवताः)। अतः अग्नि में आहुति प्रदान द्वारा सब देवों की वृद्धि व समृद्धि की जाती है। इससे दिव्य शक्तियों का प्रस्फुरण होता है। यह सब अग्नि के आतिथ्य कर्म से सम्बन्ध रखता है। यही भाव श. प. ३।४।१।१६ में इस प्रकार अभिव्यक्त हुआ है कि इस वैष्णव१ यज्ञ की आतिथ्यस्थली सिर है। यहाँ अग्नि के मन्थन से अन्य अग्नि को उत्पन्न व प्रज्वलित करना होता है। क्योंकि अग्नि सिर से पैदा होती है अत शिर से ही यज्ञ की उत्पत्ति होती है। अग्नि में सब देवताओं का निवास स्थान है। अतः सब

१ अग्नि मन्थति । शिरो वै यज्ञस्यातिथ्यम् । जनयन्ति वा एनमेतद् यन्मन्थन्ति शीर्षतो वा अग्रे जायमानो जायते । शीर्षत एवैतदग्रे यज्ञ जनयत्यग्नि र्वै सर्वा देवता अग्नौ हि सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुह्वति शिरो वै यज्ञस्यातिथ्यम् । शीर्षत एवैतद् यज्ञ सर्वाभि र्देवताभि समर्धयति तस्मादग्नि मन्थति ।

—श. प. ३।४।१।१६

देवताओं के भक्षण के लिए अग्नि मे आहुति प्रदान की जाती है। अग्नि खूब प्रज्वलित हो और सोम रूपी हवि का भक्षण करे । इसी कारण अग्नि का मन्थन किया जाता है । इस उपर्युक्त प्रकरण को यदि हम आधुनिक भाषा मे समझना चाहें तो इस प्रकार समझ सकते हैं कि मनुष्य जब सिर के भाल पट्ट में विद्यमान अग्नि (अग्नि र्ललाटं यम कृकाटम्) के केन्द्र मे ध्यान लगाता है तो वहाँ चेतना के बार-बार प्रहार से अग्नि का मन्थन प्रारम्भ हो जाता है कालान्तर मे तत्स्थान की अग्नि प्रज्वलित हो उठती है । इसका परिणाम यह होता है कि सिर के दिव्य केन्द्रों पर पतित मलावरण भस्म हो जाता है और वे दिव्य-शक्ति के केन्द्र उद्घाटित हो जाते हैं अथवा यह भी कह सकते है कि अग्नि मे प्रदत्त आहुति के भक्षण द्वारा सिर मे विद्यमान देव समृद्ध व परिपुष्ट होते है और फिर वे सब प्रकार के आवरणों को फोड़कर बाहर निकल आते है।

ऐतरेय ब्राह्मण ३य अ ५ ख में इस अग्नि-मन्थन के सम्बन्ध में यह कहा है कि मन्थन द्वारा उत्पन्न अग्नि प्रारम्भ में शिशु रूप मे होती है ।

वह पूर्व में विद्यमान आहवनीयाग्नि की गोद मे पहुंचती है। यह शिशुरूप में सद्योजात अग्नि पूर्व में विद्यमान अग्नि की प्रिय अतिथि बनती है। ये दोनों अग्नियां विप्र है, सखा हैं। अब देवता लोग इस अग्नि से अग्नि का यजन करते हैं। अग्नि मे अग्नि की आहुति प्रदान की जाती है। यह अग्नि मे अग्नि की आहुति स्वर्गाहुति कहलाती है अर्थात् स्वर्ग प्राप्ति कराने वाली है। यह प्रकरण जहां आन्तरिक अग्नियों की ओर संकेत करता है वहां गुरुशिष्य रूपी अग्नियों की ओर भी संकेत करता है और उनके सम्बन्ध को दर्शाता है। बाह्य कर्म-कांड में अग्नि-मन्थन के समय निम्न वस्तुओं की आवश्यकता होती है। एक मन्थन शकल (शिला) होता है। उसके ऊपर दर्भ के दो कोमल पत्ते होते हैं। इनके ऊपर अधरारणि रखी जाती है और इस अधरारणि के ऊपर उत्तरारणि होती है जो कि मन्थन करने वाली होती है। ब्राह्मण ग्रन्थों में अधरारणि को उर्वशी माना है और उत्तरारणि को पुरूरवा। ये सब अग्नि मन्थन के साधन हैं, पुरूरवा और उर्वशी नामक अरणियों के मिथुन से आयु नामक

पुत्र पैदा होता है। इस आयु को ब्राह्मण-ग्रन्थों में अग्नि रूप माना है। इस मन्थन सम्बन्धी समग्र प्रकरण का पूर्ण स्पष्टीकरण अति विस्तार की अपेक्षा रखता है। हमें यहां इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि अध्यात्म-क्षेत्र में मस्तिष्क सम्बन्धी अग्नि मन्थन व उसके आतिथ्य का यहां वर्णन चल रहा है। इसलिये पुरूरवा और उर्वशी मस्तिष्क सम्बन्धी कोई विशिष्ट अङ्ग व उनकी गुह्य शक्ति प्रतीत होती है। ये कोई ऐतिहासिक व्यक्तियां नहीं हैं यह आतिथ्येष्टि प्रकरण से अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है।

अग्नि-मन्थन तथा नवकपालों में हवि-पाक

मन्थन द्वारा सर्वप्रथम अग्नि प्रज्वलित होती है तदनन्तर उसमें हवि का परिपाक किया जाता है। सोम राजा के आतिथ्य के अवसर पर जो हवि-विशेष भक्षण के लिए तैयार की जाती है वह नव कपालों में सस्कृत अर्थात् शुद्ध, परिष्कृत व परिपक्व की जाती है। अब प्रश्न यह है कि वे नव कपाल क्या हैं और इनमें संस्कृत व परिपक्व

होने वाली हवि क्या है ? इस सम्बन्ध में प्राचीन आचार्यों ने जो इसका निर्णय किया है उसका संक्षिप्त सार आधुनिक भाषा मे निम्न प्रकार है।

ऊर्ध्व रेतस् मनुष्यों में सोम रूपी वीर्य ऊर्ध्वारोहण द्वारा शरीर यज्ञों को परिपूर्ण करता हुआ मस्तिष्क में पहुचता है, वहां ज्ञान व प्रकाश के क्षेत्र मे पहुंच कर विष्णु अर्थात् व्यापक शक्ति वाला बनता है और उसका सत्वांश और भी सत्वगुण से सम्पन्न होता है। यह विष्णु रूपी सोम मस्तिष्क की अग्नि द्वारा संस्कृत व परिपक्व हो मस्तिष्क के ऐन्द्रियिक रसों से उसका मिश्रण होता है। इससे वह सोम आप्यायित व परिपुष्ट होता है। इसकी परिपुष्टि से ऐन्द्रियिक ज्ञान व्यापक व दिव्य बनता है। इस प्रकार सोम को भक्षण के लिये परिपक्व ऐन्द्रियिक रस मिलते है और फिर वह सोम देवों व दिव्य शक्तियो का हवि बनता है। सोम के आतिथ्य के अवसर पर हवि विशेष के भक्षण का यह संक्षिप्त सार है। प्राचीन आचार्यों ने अपनी विशिष्ट शैली मे पारिभाषिक शब्दों द्वारा जो समाधान किया है अब हम उस पर विचार करते है।

सर्व प्रथम यह प्रश्न पैदा होता है कि नवक-पाल क्या है जिनमें कि सोम के भक्षणार्थ हवि सस्कृत व परिपक्व की जाती है ?

नवकपाल–नवप्राण

प्राचीन आचार्यों का यह कहना है कि शरीर में विद्यमान नौ प्राण ही नव कपाल हैं। इन नौ प्राणों द्वारा शरीरगत रसों को संस्कृत शुद्ध परि-मार्जित व परिपक्व किया जाता है। अब प्रश्न यह है कि वे नौ प्राण कौन से हैं ? शास्त्रों पर दृष्टि-पात करने से हमें यह प्रतीत होता है कि इन प्राणों के परिगणन के सम्बन्ध में भी आचार्यों में मतभेद है। वह संक्षेप में इस प्रकार है—

क. सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः द्राववाञ्चौ
तै. स ५।३।२

अर्थात् सिर के सात प्राण (२ कान+२ नासिका+२ चक्षु+१जिह्वा) और दो नीचे के प्राण=ये कुल नौ प्राण हो जाते हैं।

ख सिर१ के ७ प्राण + २ स्तन्य प्राण ।
सिर२ के ७ प्राण + २ मूत्र्य और पुरीष्य ।

अर्थात् सिर के सात प्राणों के सम्बन्ध में उपर्युक्त गणना में कोई मतभेद नहीं है पर नीचे के दो प्राणों के विषय में मतभेद है। एक आचार्य नीचे के दो प्राण स्तन्य सम्बन्धी मानते हैं अर्थात् वे स्तनों में हैं और दूसरे आचार्य मूत्र और पुरीष वाले प्राणों का ग्रहण करते हैं। पर ये नीचे के प्राण अनुयाज हैं जिनका ग्रहण आतिथ्येष्टि में वर्जित है। क्योंकि विष्णु-क्रमण मे नाभि से नीचे मनुष्य को नहीं जाना है। नीचे के अङ्गों का तो ध्यान ही नहीं होना चाहिये।

ख (१) नेत्रे श्रोत्रे घ्राणविले वाक् प्राणा सप्तमूर्धनि। स्तन्यौ द्वाविति नाभेः स्युरूर्ध्वं प्राणा नवस्थिता।

(२) नव वै प्राणा शरीरान्तर्वर्तिनो वायवः। तत्र मुखे सप्तचक्षुषी नासिके कर्णौ जिह्वेति। त इमे ऊर्ध्वा प्राणा. नाभेरुत्तिष्ठन्ति । नाभेरवाञ्चावपि द्वौ मूत्र्य पुरीष्यः। षड् गुरुशिष्यः।

ग. एक मत१ यह है कि चक्षु आदि नौ प्राण नाभिस्थ वेन प्राण से निकल ऊर्ध्व की ओर प्रयाण करते हैं।

घ एक अन्य२ मत यह भी है कि प्राण, उदान और व्यान ये तीन प्राण हैं। इनके नौ पद है जो सात सिर में और दो नीचे हैं।

ङ. तैत्तिरीय३ संहिता में त्रिवृत तेज की दृष्टि से भी कपालों की नौ संख्या दर्शायी है। इस

---

१ अय वै वेनः नाभिचक्रगत प्राणोऽत्राय शब्देन कथ्यते। अस्मादूर्ध्वा अन्ये प्राणा वेनन्ति। नाभिस्थादुत्थिता ह्यस्मान्नवप्राणाश्चरन्ति वै। ऊर्ध्वरूपा एतदिच्छावशेनातोऽस्य वेनता। षड्गुरुशिष्य।

२ त्रयो वै प्राणा· प्राण उदान व्यानास्तानेवास्मिन्नेतद् दधाति तासा नवपदानि नव वै प्राणाः सप्तशीर्षन्नवाञ्चौ द्वौ तानेवास्मिन्नेतद् दधाति। --श. प. ६।४।२।५

३. नव कपाल. · तेजस्त्रिवृत् तेज एव यज्ञस्य शीर्षन् दधाति। —तै स ६॥२।१

प्रकार तीन कपालों मे तेज और प्राण के त्रिवृत्व की दृष्टि से भी नौ संख्या हो जाती है।

च तैत्तिरीय१ संहिता में एक और दृष्टिकोण से नौ संख्या दर्शायी है। वह यह है कि नव कपाल इसलिये हैं कि पुरुष का सिर नौ स्थानों पर सिला हुआ है। इसकी व्याख्या में सायणाचार्य ने लिखा है कि पुरुष के सिर में आठ कपाल हैं, इन आठों कपालों का परस्पर सीवन होता है। तदनन्तर समूह रूप मे मिले हुए इन आठों कपालों वाले सिरका नीचे कबन्ध से सीवन होता है। ये मिलकर नौ कपाल हो जाते हैं। इस प्रकार नौ कपालों की संख्या के परिगणन के सम्बन्ध में विभिन्न मत हमने यहां प्रदर्शित किये। प्राणों की नौ संख्या के कारण कपाल भी नौ लेने हैं। इन नौ कपालों में

१. नवकपालो भवति नवधा पुरुषस्य शिरो विष्यूतम्। —तै. स. ६।२।१
तत् तस्मादष्टाकपाल पुरुषस्य शिरः इति ततोऽष्टानां कपालाना परस्परमष्टधा स्यूतिस्ततस्तत् समूहरूपस्य शिरसोऽधस्तनेन कबन्धेन सहैकधा स्यूतिः। —सायणाचार्य।

सोम राजा के भक्षण के लिये हवि संस्कृत व परिपक्व की जाती है। अग्नि इस हवि को संस्कृत व परिपक्व करती है। अतः अग्नि का मन्थन करना होता है। अग्नि के मन्थन से अग्नि की वृद्धि होती है और सोम के लिये हवि का परिपाक होता है। यह हवि इन्द्रिय रस है। ये शुद्ध व परिपक्व रस जब सोम से मिलते हैं तो दिव्य-ज्ञान की उत्पत्ति होती है।

अग्नि-मन्थन से तेज व देवत्व की उत्पत्ति

मै. सं ३।७।६ में आता है—

'अग्नि मन्थन्त्यथो यज्ञाय वा एतत् क्रीताय देवतां जनयन्त्यथो तेज एवाऽस्मै जनयन्त्यथो उपसत्सु वावास्मा एतद् वीरं जनयन्ति।'

अर्थात् अग्नि-मन्थन करते हैं किस लिए ? शरीरान्तर्गत यज्ञ के लिए करते हैं, क्रीत सोम के लिए देवत्व को उत्पन्न करते हैं और ग्रीवास्थ प्राणों (उपसद्) में वीरता पैदा करते हैं।

अग्नि मे सब देवता विराजमान होते है, इसलिए अग्नि मन्थन द्वारा अग्नि की वृद्धि से सब देवों की भी वृद्धि होती है । यह उपर्युक्त भाव निम्न कण्डिका मे भी विद्यमान है—

'अथो खल्वाहुरग्निः सर्वा देवता इति यद्धविरासाद्याग्नि मन्थति हव्यायैवासन्नाय सर्वा देवता जनयति' ।

तै म ६।२।१।७

अर्थात् ब्रह्मवादी अग्नि मे सब देवताओं का निवास मानते है । इस तथ्य का प्रत्यक्षीकरण उस समय होता है जब कि मस्तिष्क के अग्र भाग मे विद्यमान आतिथ्येष्टि की वेदि (भाल पटल) पर हवि पहुचती है और अग्नि का मन्थन होता है तो अग्नि में अन्तर्निहित सब देवता हवि भक्षण के लिए उत्पन्न हो जाते है यह सब देवताओं की उत्पत्ति की प्रक्रिया है ।

हम नव कपालों (नव प्राणों) पर विचार करते हुए ऊपर यह निर्देश कर चुके है कि नीचे के मूत्र और पुरीष वाले दो प्राणों का यहां यजन

व मेल नहीं करना है । क्योंकि इन नीचे के दो प्राणों की अग्नि प्रवृद्ध हो, मनुष्य को पतन के गर्त में ला पटकती है । इसी बात को शास्त्रों में प्रयाज (ऊर्ध्व प्राण) और अनुयाज (मूत्र पुरीष के प्राण) इन दो प्राणों द्वारा विवेचन किया गया है । अब हम इन प्रयाज और अनु-याज प्राणों पर विचार करते हैं ।

आतिथ्य में प्रयाज प्राणों की आहुति व मेल,

शास्त्रों में कहा गया है कि आतिथ्येष्टि में प्रयाज प्राणों का यजन होता है अनुयाजों का नहीं । यजन मेल व संगनिकरण को कहते हैं । इसका तात्पर्य यह हुआ कि आतिथ्येष्टि के समय प्रयाज प्राणों के साथ तो सम्बन्ध व मेल होता है पर अनुयाजों के साथ नहीं । ऐतरेय ब्राह्मण में आता है कि '[1]सिर में सोम देवता का जो आतिथ्य

---

१ इडान्तेन वा एतेन देवा अराध्नुवन् यदातिथ्य तस्मादिडान्तमेव कर्तव्यं प्रयाजानेवात्र यजन्ति नानुयाजान् । —ऐ ब्रा. १।१७

किया जाता है वह इडान्त तक ही होता है। यहाँ प्रयाज नामक प्राणों का ही यजन व सम्बन्ध होता है अनुयाजों का नहीं। शतपथ ब्राह्मण ने इसी बात को कुछ और विस्तार से प्रदर्शित किया है। वहा आता है कि 'यह[१] आतिथ्य नामक यज्ञ इडान्त तक होता है। इसमे अनुयाजों का यजन नहीं होता और यह यज्ञ सिर के पूर्वार्ध में ही होता है अर्थात् इसमें सिर के पूर्वार्ध का यज्ञ द्वारा संस्कार किया जाता है। इसमें अनुयाजों से मेल नहीं होता। यदि इसमे अनुयाजों का मेल किया गया तो वह उसी प्रकार होगा कि जिस प्रकार पैरों को उठा कर सिर पर रख दिया जाये। इस से यह स्पष्ट है कि आतिथ्येष्टि मे प्रयाज प्राणों का ही यजन व मेल होता है अनुयाजों का नहीं।

---

१. तदिडान्तं भवति। नानुयाजान् यजन्ति शिरो वै यज्ञस्यातिथ्यं पूर्वार्धो वै शिरः पूर्वार्धमेवैतद यज्ञस्याभिसंस्करोति स यद्धानुयाजान् यजेद् यथा शीर्षतः पर्याहृत्य पादौ प्रतिदध्यादेव तत्तस्मादिडान्तं भवति नानुयाजान् यजन्ति। श. प. ३।४।२।२६, ऐ ब्रा १।१७

अब विचारणीय यह है कि प्रयाज और अनुयाज कौन-से प्राण हैं ?

प्रयाज और अनुयाज प्राण

शतपथ ब्राह्मण में आता है—

'प्राणा वै प्रयाजा अपाना अनुयाजाः ।'

—श प. ११।२।७।२७

अर्थात् प्राण प्रयाज हैं और अपान अनुयाज है। इस कथन को आगे और स्पष्ट किया है वह इस प्रकार है—

'त य इमे शीर्षन्प्राणास्ते प्रयाजाः येऽवाञ्चस्तेऽनुयाजाः ।'

—ऐ ब्रा ११।७

अर्थात् जो ये सिर में प्राण है वे प्रयाज है और जो सिर से नीचे के प्राण हैं वे अनुयाज हैं। ये शिरस्थ प्रयाज प्राण कितने हैं ? इस सम्बन्ध में ऐतरेय ब्राह्मण ३।६ में कहा है—

'शिरोवा एतद् यज्ञस्य यदातिथ्यम् । सप्त वै शीर्षन् प्राणाः शीर्षन्नेवैतद् प्राणान्दधाति ।'

अर्थात् सोम की जो आतिथ्यस्थली है वह इस शरीर रूपी यज्ञ का सिर है । सिर में सात प्राण हैं । इन सातों प्राणों को आतिथ्येष्टि के समय सिर में रखना होता है । इससे यह स्पष्ट है कि इस आतिथ्येष्टि में सिर के ये सात प्राण ही प्रयाज कहलाते हैं । यहां हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि आतिथ्येष्टि के अतिरिक्त अन्य इष्टिओं व प्रसंगों में प्रयाज और अनुयाज प्राण अन्य होंगे । इसी दृष्टि से शतपथ ब्राह्मण ११।२।६।४ में पञ्च प्रयाजों का भी वर्णन आता है । परन्तु आतिथ्येष्टि के प्रसंग में सिर के सात प्राणों को प्रयाज माना गया है और अन्य सब गर्दन आदि के प्राणों को अनुयाज कोटि में रखा है । यदि प्रयाज में सात प्राणों का ग्रहण करना हो तो हवि-संस्कार के लिए ६ कपालों के स्थान में ७ कपाल ही लेने चाहिये यह विचारणीय विषय है । अब हम एक और दृष्टि से भी इस आतिथ्येष्टि सम्बन्धी प्रयाज प्राणों का निर्णय करते हैं और

वह यह कि ग्रीवास्थ प्राणों को त्रिपुर-भेदन के समय 'उपसद्' नाम दिया गया है । ये ग्रीवा में स्थित उपसद् नामक प्राण आतिथ्येष्टि में अनुयाज माने गये हैं । यथा—

'उपसदो वा एतस्यानुयाजाः ।'
—तै स ६।२।१

'आतिथ्यं वा उपसदां प्रयाजा ।'
—मै स. ३।८।२

'आतिथ्यस्य शिरस्त्वमुपसदां ग्रीवात्वम् ।'
—ऐ. ब्रा. १।५।८

इन उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि ग्रीवा से ऊपर सिर के प्राण इस आतिथ्य याग में प्रयाज नाम से कहे जाते हैं और ग्रीवा तथा ग्रीवा से नीचे के सब प्राण अनुयाज हैं । ग्रीवा के प्राणों का त्रिपुर-भेदन के समय पारिभाषिक नाम 'उपसद्' है । इस पर हम उपसद् इष्टि के सम्बन्ध में लिखते हुए विस्तार से विचार करेंगे । प्रयाज और अनुयाज पदों का सामान्य अर्थ यह है कि प्रयाज (प्र+यज) प्रकृष्ट यजन को सूचित करता है

अर्थात् इस आतिथ्येष्टि में सिर के प्राणों का प्रकृष्ट यजन उनका संस्कार व उनका प्रकृष्ट मेल अभीष्ट है। गर्दन से नीचे के प्राणों का इसमे यजन व मेल नहीं है। इसका भाव यह हुआ कि आतिथ्येष्टि सम्बन्धी आध्यात्मिक साधन के समय मनुष्य सिर में स्थित रहे गर्दन व गर्दन से नीचे न उतरे। यदि गर्दन से नीचे उतर आया तो नीचे के प्राणों, जिन्हें कि अनुयाज कहा जाता है उनका मेल हो जायगा। इससे आतिथ्येष्टि सम्बन्धी अभीष्ट फल की उपलब्धि न होगी। परन्तु यह मस्तिष्क में स्थिति आतिथ्येष्टि तक ही है। जब दिव्यता जागृत हो जाती है तब दिव्य-शक्ति को पर्जन्य अर्थात् मेघ बन कर नीचे स्थूल अंगों में बरसने का विधान हुआ है।

त्रिपुर-भेदन में विष्णु का योग

तै. स में आता है कि असुरों[1] की तीन पुरी

---

१. तेषामसुराणा तिस्रः पुर आसन्नयस्मय्यवमाऽथ रजताऽथ हरिणी ता देवा जेतु नाशक्नुवन् ता उपसदैवाजिगीषन् तस्माद्‌ाहुर्यश्चैव वेद यश्च

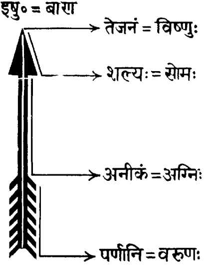
थीं। पृथिवी पर लोहमयी, अन्तरिक्ष मे रजतमयी, तथा द्युलोक में सुवर्णमयी। देवता असुर सम्बन्धी इन पुरियों को जीत न सके। तब उन्होंने उपसद से इन पर विजय प्राप्त की। इसी कारण कहते हैं कि कोई इस रहस्य को जानता हो या न जानता हो, पर रहस्य यही है कि उपसद् से ही महापुरों को जीता जाता है इस प्रकार निश्चय कर उन्होंने बाण का निर्माण किया। अग्नि को अनीक, सोम

नोपसदा वै महापुर जयन्तीति त इषु समस्कुर्वताग्निमनीक सोम शल्य विष्णु तेजन तेऽब्रुवन् क इम मसिष्यतीति रुद्रइत्यब्रुवन् रुद्रो वै क्रूर सोऽस्यत्विति सोऽब्रवीद्वर वृणा अहमेव पशूनामधिपतिरसानीति तस्माद्रुद्र पशूनामधिपति ता रुद्रोऽवासृजत् स तिस्र पुरो भित्वैभ्यो लोकेभ्योऽसुरान् प्राणुदत्।

तै स ६।२।३

इषु वा एता देवा समस्कुर्वत यदुपसदस्तस्या अग्निरनीकमासीत् सोमः शल्यो विष्णुस्तेजन वरुण पर्णानि तामाज्यधन्वानो व्यसृजस्तया पुरो भिन्दन्त आयन्। —ऐ. ब्रा १।२५।

को शल्य और विष्णु को तेजन बनाया। ऐतरेय-ब्राह्मण १।२५ के अनुसार देवों ने बाण के पर्णों के स्थान में वरुण को नियुक्त किया।



इस बाण को चित्र में हम उपर्युक्त प्रकार प्रदर्शित

कर सकते हैं। बाण के निर्माण के अनन्तर देवों ने पुनः मन्त्रणा की, कि अब इसे आसुरी पुरी पर फेंके कौन ? उनके विचार मे रुद्र ही इस कार्य के लिये उपयुक्त प्रतीत हुआ, क्योंकि वह क्रूर है । अतः देवों ने रुद्र से बाण फेंकने के लिये प्रार्थना की। इस पर रुद्र ने यह वर मांगा कि मैं पशुओं का अधिपति बन जाऊं। देवताओं ने उसकी शर्त स्वीकार करली। तदनन्तर रुद्र ने वह बाण मार कर असुरों की तीनों पुरिओं का भेदन कर दिया और इन लोकों से असुरों को मार भगाया। यह कथानक का संक्षिप्त सार है। यह कथानक कुछ परिवर्तनों के साथ अन्य ग्रन्थों मे भी आया है। यथा श. प. ३।४।४।३, ऐ ब्रा १।२३।२५, मै. स. ३।८।१-२, काठ. २४।१०-२५. कपि. ३८।३,४

तैत्तिरीय संहिता के उपर्युक्त प्रकरण के पूर्ण स्पष्टीकरण के लिये सर्व प्रथम यह आवश्यक है कि तद्गत कई परिभाषाओं का स्पष्टीकरण हो जाये । सब परिभाषाओं का स्पष्टीकरण तो यहां सम्भव नहीं है । केवल उपसद् नामक परिभाषा पर हम यहां विचार करते हैं ।

उपसद् = ग्रीवास्थ प्राण

'उपसद्' ग्रीवास्थ प्राणों को कहते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण १।२५ में आता है—

'आतिथ्यस्य शिरस्त्वमुपसदा ग्रीवात्वम् ।'

अर्थात् आतिथ्य का स्थान सिर है और उपसदों का ग्रीवा है। प्रश्न यह है कि ग्रीवास्थ प्राणों को उपसद् क्यों कहते हैं? इसका समाधान मैत्रायणी-संहिता में यह किया है—

'ते (देवाः) अब्रुवन् उपसीदामोपसदा वै महापुरं जयन्तीति त उपासीदंस्तदुपसदामुपसत्त्वं तानेभ्यो लोकेभ्य. प्राणुदन्त ।'

—मै. स. ३।८।१

वे देव बोले कि आओ हम बैठें (ग्रीवा में)। क्योंकि ग्रीवा में बैठने (उपसद्) से महापुरो पर विजय प्राप्त होती है। अतः ग्रीवा में उपसन्न होना उपसद् तत्व है। अब प्रश्न यह है कि

गर्दन मे किसने बैठना है और किसके द्वारा बैठना है ? आधुनिक भाषा में इसका समाधान यह हो सकता है कि सर्वप्रथम मन तथा प्राण के द्वारा गर्दन मे बैठना चाहिए क्योंकि मन और प्राण के द्वारा बैठने से शरीर के सब देवों का बैठना हो जाता है । जिस समय मन और प्राण गर्दन मे स्थित होते हैं तब इनकी सज्ञा उपसद् होती है । षड्गुरु शिष्य ने लिखा है—

'उपसद्भिः शरं देवा दैत्यैर्युद्धाय प्रचक्रिरे' ।

उपसद् अर्थात् ग्रीवास्थ प्राणों मे स्थित हो कर देवों ने दैत्यों के प्रति शर-प्रहार द्वारा युद्ध प्रारम्भ किया । सायणाचार्य ने शतपथ ब्राह्मण के भाष्य मे 'उपसीदन्' का अर्थ चारों ओर से घेरने के किये है । यथा—

'असुर निर्गमनप्रतिबन्धात् त्रीणि पुराण्या-
वृत्य न्यवसन्नित्यर्थः ।'

अर्थात् देव असुरों के निर्गमन मार्ग पर प्रतिबन्ध लगा कर तथा तीनों पुरियों को चहुं ओर से

घेर कर जा बैठे । इसी प्रकार अन्यत्र एक स्थल पर लिखा है—

'उपसदनदुर्गवेष्टनेन उपेत्यावृण्वन्ति ।'

अर्थात् आसुरी दुर्ग को वेष्टन कर तथा दुर्ग के समीप पहुंच कर चारों ओर से घेर लेते हैं । अब विचारणीय यह है कि तीन लोक व तीन पुरी क्या हैं ? इसके उत्तर में हम यह कह सकते हैं कि ये तीन लोक व तीन पुरी ग्रीवा से ऊपर के तीनों मस्तिष्क हैं । यथा मस्तिष्क (Cerebrum) अनुमस्तिष्क (Cerebellum), सुषुम्णाशीर्षक (Pons, Medulla) ये शरीर के तीन लोक हैं अथवा तीनों लोकों का ये प्रतिनिधित्व करते हैं । अब उपसद् प्रक्रिया में अपनी चेतना व प्राण को गर्दन से नीचे न लेजा कर समग्र मस्तिष्क को दिव्य भावों के वातावरण से घेर देना चाहिए । इस प्रकार यह उपसीदन व दुर्गवेष्टन की क्रिया होगी । तदनन्तर रुद्रादि देवों द्वारा बाण-प्रहार किया जाता है । वह इस प्रकार कि सर्व प्रथम अग्नि का यजन व मेल किया जाता है। कहा भी है—

'अग्निना वै स तास्तेजसाऽभिनत् तस्मा-
दग्निः प्रथम इज्यते यदन्यां देवतां पूर्वां यजेदवीर्यवतीः स्युः ।'

अर्थात् रुद्र ने अग्नि के तेज से इन आसुरी पुरियों का भेदन किया, इसी कारण अग्नि का प्रथम यजन व संगम करना होता है। यदि अग्नि के अतिरिक्त किसी अन्य देवता का प्रथम यजन होगा तो वह क्रिया वीर्यवती न होगी। इसका भाव यह है कि इन्द्रियों के अवराध्य अर्थात् इन्द्रिय गोलकों और उनके सिरों (End organs) में अग्नि का निवास है और पराध्य में अर्थात् (Brain centres) में विष्णु है। अग्नि का प्रथम यजन किस प्रकार होगा यह हम उदाहरण से स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। उदाहरणार्थ चक्षु को देखते हैं, चक्षु-गोलक में अग्नि है, अतः सर्व प्रथम समग्र मन व समग्र प्राण से गोलक मे पहुंचकर दृष्टि को गोलक में केन्द्रित कर वस्तु को एकटक देखें तो यह अग्नि का यजन होगा अर्थात् गोलक में स्थित अग्नि से चेतना का यजन व मेल होगा इस प्रकार अग्नि का यजन कर

मस्तिष्क की ओर ऊर्ध्वारोहण करना चाहिये। यह ऊर्ध्वारोहण अग्नि का लोकों (मस्तिष्क लोकों) की ओर अन्वारोहण है। कहा भी है—

'अग्निना वै मुखेन देवा इमांल्लोका-नन्ववायन्।'

मै. म. ३।८।१

अर्थात् अग्नि के मुख से देवों ने इन लोकों की ओर आरोहण किया। इस संहिता वाक्य को यदि हम और अधिक स्पष्ट करें तो इस प्रकार कर सकते हैं कि सर्व प्रथम इन्द्रिय गोलक में स्थित अग्नि (ज्योति) का वस्तु से योग होता है जिसे आग्नेययाग कहते हैं। इस आग्नेय-याग के अनन्तर शनैः-शनैः मनुष्य ऊर्ध्व में केन्द्र की ओर प्रयाण करता है। ऊर्ध्व की ओर प्रयाण मे मध्य भाग में नाड़ी-क्षेत्र आ जाता है। नाड़ियों में विद्यमान रस सोम है, यहां सोम से यजन व मेल होता है। अतः यह सोम याग है। अन्त मे चक्षु-इन्द्रिय के केन्द्र मे पहुंचने पर विष्णु आता है। क्योंकि विष्णु का स्थान पराध्यं मे है। अतः वहां

विष्णु-याग होता है। यह सब प्रक्रिया योग-दर्शन की 'सयम' परिभाषा तथा "बहिरकल्पिता वृत्तिर्महा-विदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः" सूत्रों से व्याख्यात होती है। वरुण बाण के पर्ण है। वरुण द्वारा मलों पापों आदि को दूर करते रहना चाहिये। संक्षेप मे 'उपसद' प्रक्रिया इस प्रकार होगी कि भाल पट्ट चक्षु, नासिका, जिह्वा आदि अग्नि स्थानों पर अपनी चेतना को केन्द्रित करना चाहिये। शनैः-शनैः यह चेतना-प्रवाह अन्तर्मुखी हो जाता है, जहां अन्त मे मस्तिष्क मे पहुचकर बुद्धि केन्द्रों मे प्रहार करता है और व्यापक विष्णु-रूप बनता है। तीनों मस्तिष्कों की सीमाओं को तोड़ गिराता है। यह रुद्र व देवों द्वारा महापुरों को भेदन करने के लिये बाण प्रहार है। परन्तु यहां इस बात का अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि गर्दन मे स्थित रहकर ही यह सब प्रक्रिया अपनानी है। ये सब साधना से सम्बन्ध रखती हैं। यह उपसद् इष्टि है जो कि आतिथ्येष्टि के पश्चात् तीन दिनों मे पूरी होती है और यह पूर्वाह्ण और अपराह्ण-काल के भेद से दो प्रकार की मानी गई है और आग्नेय, सौम्य तथा वैष्णव ये तीन याग मिलाकर एक उपसद्

इष्टि पूरी होती है। कहा भी है

उपसदः पूर्वाह्णापराह्णयोरभ्यस्यमानं
आग्नेय सौम्यवैष्णवयागत्रयमेका उपसत्।'
—मीमांसा कोष।

जब चेतना ऊर्ध्व मे मस्तिष्क के विष्णु स्थान में पहुंचती है तो वह विष्णु बाण की अन्तिम नोक (तेजन) का रूप होता है। यह नोक आसुरी आवरण को भेदन कर अन्दर प्रविष्ट हो जाती है। इस प्रकार त्रिपुर-भेदन मे विष्णु का योग होता है।

वामन और विष्णु

'वामनो ह विष्णुरास'।
—श. प. १।२।५।५

विष्णु ही पूर्व में वामन था, जो तत्व पूर्व में वामन था वही ऊर्ध्वारोहण कर त्रिपदी के अन्तिम छोर पर पहुंच कर विष्णु रूप को धारण कर

गया । निचले छोर पर वामन है तो ऊर्ध्व छोर पर विष्णु । बीज वामन है तो वही अंकुरित हो तना, शाखा, पुष्प व पल्लव आदि रूपों में विस्तृत हो वह और व्यापता है । ब्रह्मचर्य की वसु अवस्था में वीर्य वामन है तो वही आदित्य अवस्था में पहुंच ब्रह्माण्ड-व्यापी ज्ञानोपलब्धि का साधन बनता है । उदर व प्रजनन अङ्गों में इसका रूप वामन का है इसमें शक्ति न्यून है । ऊर्ध्वरेतस् प्रक्रिया – जो कि तीन पाद प्रक्षेपों (प्राण, मन और बुद्धि) में पूर्ण होती है – के द्वारा जब यह वीर्य मस्तिष्क में पहुंचता है और वहां साधना द्वारा दिव्य-शक्ति सम्पन्न होता है तब इसका नाम विष्णु होता है । क्योंकि विष्णुत्व (विष्लृ व्याप्तौ) की चरितार्थता गति व्याप्ति आदि में है । विष्णु शब्द अनेक धातुओं से निष्पन्न किया जाता है पर इसका प्रमुख व केन्द्रीय भाव गति या व्यापकता में है । इस प्रकार वामन और विष्णु का सहचार सृष्टि की एक विशिष्ट प्रक्रिया का द्योतक है और वह यह कि पूर्व में वामन है बाद में विष्णु है और वामन ही विष्णु बनता है । परन्तु हमें यह अवश्य ध्यान में रखना चाहिये कि विष्णु का विष्णुत्व

सत्व¹ गुण का धरातल है। वामन से विष्णु तक सत्व की ही पटरी पर गति होती है ऊर्ध्वगति सत्व के ही कारण होती है। अतः वामन और विष्णु सत्व के ही रूप हैं। ज्योति, प्रकाश व ज्ञान की वामनता और फिर इनकी व्यापकता विष्णुत्व के ही रूप हैं। इस दृष्टि से रज, तम और तद्-उत्पन्न भोगवासनाओं आदि का विष्णुत्व के प्रसंग मे ग्रहण करना उपयुक्त नहीं है। एक अन्य दृष्टि से भी हम विष्णु के सत्व रूप की पुष्टि कर सकते हैं और वह यह कि शास्त्रों मे वामन और विष्णु को यज्ञ माना गया है और यज्ञ को देवरथ कहा गया है—

'देवरथो वा एष यद् यज्ञ.।'

ऐ ब्रा २।३०

---

१ एका मूर्तिस्त्रयो देवा ब्रह्माविष्णुमहेश्वरा ।
रज सत्वतमोभिश्च सयुता कार्यकारका ॥
—देवी भागवत

रजो ब्रह्मा तमो रुद्रो विष्णु सत्व जगत्पति ।
एत एव त्रयो देवा एत एव त्रयो गुणा ॥
—मार्कण्डेय पुराण

अतः दिव्यत्व के वाहक यज्ञ में भोग-वासनायें तथा तज्जनित काम, क्रोध व लोभ आदि का होना सम्भव नहीं है। अतः ये वामन और विष्णु दोनों सत्वरूप हैं, यह हमें अवश्य ध्यान में रखना चाहिए। मानव शरीर में शिश्न व योनि आनन्द-मय विशाल जगत् का वामनरूप है। यह शिश्न व योनि आदि ऊर्ध्व और अधर दोनों लोकों की ओर जाने वाली गतियों का केन्द्र-बिन्दु है अथवा यह जकशन है जिससे दोनों ओर को मार्ग फटते हैं। अधरगति में यह काम का रूप धारण करता है तो ऊर्ध्वगति में अग्नि की उत्पत्ति से प्रारम्भ कर अन्य समग्र देवों को उत्पन्न करता हुआ अन्त में विष्णु रूप को धारण कर जाता है। यह ब्रह्मचर्य का रूप है : ब्रह्म में विचरने की यह प्रारम्भिक स्थली है। शेषनाग जो कि रीड की अस्थियों के माध्यम से होता हुआ सिर में सहस्र-फणों का रूप धारण करता है उसकी यह पुच्छ-स्थली है। यही उत्थस्थली है जहां से कि शक्ति वामन रूप में उद्भूत होकर ऊर्ध्व में पहुंच कर ब्रह्माण्ड व पिण्डव्यापी विष्णु भगवान् बन जाता है। इस प्रकार वामन और विष्णु का सक्षेप में

स्वरूप-चिन्तन हुआ।

विष्णु के सम्बन्ध में वामन शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम यजुर्वेद में हुआ और वह भी सीधा विष्णु का वाचक न होकर वैष्णव पशु के लिए हुआ है। देवताओं के पशुओं का परिगणन कराते हुए वहीं आता है—

'वैष्णवो वामनः'।

—यजु. २४, १

अर्थात् वामन पशु विष्णु का है। यह विष्णु की रूप सामग्री है। त्रिविक्रम से पूर्व विष्णु का स्वरूप वामन का है। तीन विक्रमणों के पश्चात् यह वामन नहीं रहता, विष्णु बन जाता है। अब हम वामन सम्बन्धी एक कथानक प्रस्तुत करते हैं, जिसका संक्षिप्त भाव इसप्रकार है—'देव और असुर ये दो प्रजापति की सन्तान हैं। इनमें परस्पर स्पर्धा हुई। इस स्पर्धा में देव पराजित हो कर इनका अनुगमन करने में विवश हुए। असुर यह मानने लगे कि समग्र भुवन अब हमारा ही है। चलो, अब इस पृथिवी को आपस में बांट कर

सुख पूर्वक जीवन व्यतीत करें । यह सोच कर वे वृषभ के चर्म से पश्चिम दिशा से प्रारम्भ कर पूर्व दिशा की ओर पृथिवी को विभक्त करते हुए चले । देवताओं ने सुना कि असुर इस पृथ्वी का परस्पर बटवारा कर रहे हैं, उनसे न रहा गया । उन्होंने परस्पर मन्त्रणा कर यह निश्चय किया कि यज्ञ रूप विष्णु को आगे कर वहां चलते हैं, जहां कि असुर पृथिवी का विभाजन कर रहे हैं । वहां पहुंच कर उन्होंने असुरों से कहा कि इस पृथिवी में हमारा भी भाग है । अतः इस पृथिवी के बटवारे में हमें भी सम्मिलित किया जाये । असुर असूया के कारण देवों को सहन न करते हुए बोले कि जितनी भूमि को यह विष्णु व्याप्त कर ले, उतनी तुम्हें देते हैं । विष्णु उस समय वामन रूप का था । इस पर भी देवों ने असुरों के वचन का अनादर न किया और बोले कि आपने हमें बहुत दे दिया, क्योंकि यज्ञ परिमित भाग हमें मिल गया । तदनन्तर देवों ने उस यज्ञ रूप विष्णु को गायत्री आदि छन्दों से घेर कर और अग्नि को आगे कर उससे अर्चना व श्रम करते हुए विचरने लगे । इस प्रकार उन्होंने समग्र पृथिवी हस्तगत कर ली ।'

शतपथ १।२।५ । यह कथा का संक्षिप्त सार है । यज्ञ रूप विष्णु ने गायत्री आदि छन्दों के प्रभाव से त्रिपदी द्वारा इस समग्र पृथिवी को किस प्रकार आक्रान्त किया और वामन से विष्णु बने, यह हम पूर्व में विस्तार से दर्शा चुके हैं । इस कथानक में कई विचारणीय विषय है, उनमें एक यह भी है कि असुरो ने इस पृथिवी को पश्चिम दिशा से तथा देवों ने पूर्व दिशा से विभक्त करना क्यों प्रारम्भ किया ? यह दिशा का भेद क्यों है? इसका सक्षिप्त उत्तर यह है कि पाप आदि बुरे विचार मनुष्य में सदा पीठ पीछे से, अनजाने मे, अज्ञान मे या प्रच्छन्न रूप में आते हैं । हमारे शरीर मे यम अर्थात् मृत्यु देवता का स्थान मस्तिष्क के पिछले भाग कृकाट मे माना गया है ।

'यमः कृकाटम् ।'

--वेद

अपूर्ण इच्छाएं, वासनाए आदि भी इसी अवचेतन भाग में, प्रच्छन्न मन में रहती है । इसलिए मस्तिष्क का पृष्ठ भाग असुरों की वास-स्थली है ऐसा हम कह सकते हैं

और यहीं से समग्र शरीर का बंटवारा ये प्रारम्भ करते हैं । परन्तु दिव्य विचार सदा सामने से आते हैं । आयुर्वेद के दृष्टिकोण से भी मनुष्य की सकल दिव्य शक्तियों का केन्द्रीय स्थान मस्तिष्क के भालपटल में माना जाता है । इसी दृष्टि से प्राची देवों की दिशा मानी गई है ।

'प्राची हि देवानां दिक् ।'

श प १।२।५।१७

ये देव अग्नि में निवास करते हैं अथवा यह कह सकते हैं कि इनका शरीर अग्निमय है ।

'अग्निः सर्वाः देवताः ।'

यह अग्नि मनुष्य के शरीर में आगे के स्थानों में रहती है · यथा – भालपट्ट, चक्षु, वाक्, हृदय, उदर व उपस्थ आदि । पुरः स्थित या पूर्व में स्थित होने के कारण अग्नि को पुरोहित कहा जाता है । इस प्रकार अग्निमय देवों की दिशा पूर्व दिशा है । अतः यह स्वाभाविक है कि देव शक्तियां शरीर के पूर्व दिशा से ही समग्र शरीर में फैलने व व्याप्त होने का प्रयास करें । अब हम वामन सम्बन्धी वैदिक उक्तियों पर भी विचार

करते हैं। तैत्तिरीय-संहिता २।१।५।२ में आता है--

'यदा सहस्रं पशून् प्राप्नुयात् अथ वैष्णवं वामनमालभेतैतस्मिन् वै तत् सहस्रमध्य-तिष्ठत् तस्मादेष वामनः समीषितः पशुभ्य एव प्रजातेभ्य प्रतिष्ठां दधाति।'

अर्थात् जब सहस्र पशु प्राप्त हो जाये तब विष्णु सम्बन्धी वामन पशु का आलम्भन करे। क्योंकि इस वामन पशु पर ही इन सहस्रों पशुओं की स्थिति होती है। अतः सम्यक् प्रकार से शरीर के शक्ति-स्थानों में अपेक्षित, प्रेरित व विस्तृत हुआ यह वामन पशु ही अन्य उत्पन्न पशुओं की प्रतिष्ठा-स्थली बनता है।

उपर्युक्त प्रकरण का संक्षिप्त भाव यह है कि मनुष्य में स्थित इस वीर्य रूपी वामन पशु का जब आलम्भन हो जाता है। अर्थात् वीर्य को आधार बना कर उत्पन्न होने वाली वासना आदि का विनाश हो जाता है तो एक प्रकार से यह वीर्य की हिंसा है। यहां हमने आलम्भन का अर्थ हिंसा पूर्व प्रचलित याज्ञिक दृष्टिकोण से

लिया है। महाभारत में आलम्भन का सम्बन्ध क्षत्रियों से दर्शाया है जो कि शत्रु हिंसा को द्योतित करता है। वहां आता है—

'आलम्भयज्ञाः क्षत्राश्च।'

—महाभारत

इस अवस्था में वीर्य की वासना-जन्य-क्रियायें समाप्त हो जाती हैं, यही इसका आलम्भन है। इसका परिणाम यह होता है कि यह वीर्य उर्ध्वा-रोहण द्वारा शरीर में साधन-बल से सहस्रों पशुओं अर्थात् सहस्रों शक्तियों की प्रतिष्ठा व स्थिति मे कारण बनता है। यह प्रजात-पशुओं अर्थात् प्रकृष्ट रूप मे उत्पन्न बाल-शक्तियों का प्रतिष्ठा का हेतु बनता है। एक अन्य स्थल पर आता है कि—

'वैष्णवं वामनमालभेत यं यज्ञो नोपन-मेत् विष्णु वैं यज्ञो विष्णुमेव स्वेन भागधे-येनोपधावति स एवास्मै यज्ञं प्रयच्छत्यु-पैनं यज्ञो नमति वामनो भवति वैष्णवो ह्येष देवतया समृध्द्यै।

तै स २।१।८।३

अर्थात् जिसका यज्ञ (शरीर-यज्ञ) उच्छिन्न हो जाये और वह उपनत न हो तो वह व्यक्ति विष्णु-सम्बन्धी वामन-पशु का आलम्भन करे। विष्णु-यज्ञ है। अतः उच्छिन्न-यज्ञ वाला व्यक्ति स्वभागधेय को लेकर विष्णु के पास पहुंचे और उसे वह समर्पित करे। इस प्रकार उसे वैष्णव-यज्ञ की उपलब्धि होगी। प्रारम्भ में वह यज्ञ वामन रूप ही होगा पर शनैः-शनैः समृद्धि प्रदान करने के लिये वह प्रवृद्ध होता जायेगा। यहां यह विचारणीय है कि यज्ञ का उपनत न होना, विष्णु को भाग देना आदि बातों का रहस्य क्या है? इस सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त है कि यह सब वीर्य के ऊर्ध्वारोहण की प्रक्रियाएं हैं। शरीर के शक्ति केन्द्रों मे वीर्य के न पहुंचने पर वैष्णव यज्ञ का विनाश होता है, यज्ञ उपनत नहीं होता। वीर्य के ऊर्ध्वारोहण से वैष्णव-यज्ञ को वह भाग प्राप्त होता है जिससे शरीर को शक्तियां सुचारु रूप से कार्य करने लगती हैं।

औषधियों के मूल में वामन

यज्ञ रूप विष्णु जितनी भूमि पर शयन कर सके

उतनी भूमि असुरों ने देवों को प्रदान की। उन्होंने इसी पर सन्तोष व्यक्त किया। आगे देवों ने इस यज्ञात्मक विष्णु से क्या किया, इसका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है—

ते प्राञ्चं विष्णु निपाद्य छन्दोभिरभितः पर्यगृह्णन् गायत्रेण त्वा छन्दसा परिगृह्णामि इति दक्षिणतः त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि इति पश्चात् जागतेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि इत्युत्तरत ।

—श. प. १।२।५।६

अर्थात् देवों ने उस विष्णु को पूर्व की ओर शिर करके (प्राक् शिरसं निपात्य) लिटा दिया और गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती छन्दों द्वारा दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर दिशाओं से परिग्रहण किया अर्थात् घेर लिया।

'तं छन्दोभिरभितः परिगृह्य, अग्निं पुरस्तात् समाधाय तेनार्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुस्तेनेमां सर्वां पृथिवीं समविन्दन्त तद् यदे-

नेनेमां सर्वां समविन्दन्त तस्माद्वेदिर्नाम तस्मादाहुर्यावती वेदिस्तावती पृथिवीत्येतया हीमां सर्वां समविन्दन्तैवं ह वा इमां सर्वां सपत्नानां वृङ्क्ते निर्भजत्यस्यै सपत्नान् य एवमेतद् वेद ।'

अर्थात् वे देव गायत्री आदि छन्दों द्वारा उस यज्ञात्मक विष्णु को चारों ओर से पकड़ कर पूर्व दिशा मे आहवनीय अग्नि को प्रज्वलित कर विष्णु-यज्ञ द्वारा अर्चना करते हुये और श्रम करते हुए इस पृथिवी पर विचरण करने लगे । इस प्रकार उन्होने कालान्तर में समग्र पृथिवी को सम्यक् प्रकार से प्राप्त कर लिया (समविन्दन्त)। इसी से यज्ञ-स्थान को वेदी कहा जाता है और इसी कारण यह कहा जाता है कि जितनी वेदी है उतनी ही पृथिवी है । इस प्रकार यज्ञ-रूप विष्णु के प्रभाव से समग्र शत्रुओं से यह पृथिवी छीन ली गई । जो यजमान इस रहस्य को जानता है वह इस पृथिवी को शत्रु-रहित कर देता है । आगे कहा है—

'सोऽयं विष्णु र्ग्लानः । छन्दोभिरभितः परिगृहीतोऽग्निः पुरस्तान्नापक्रमणमास स तत एवौषधीनां मूलान्युपमुम्लोच ।'

अर्थात् यह विष्णु दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा में छन्दों से गृहीत होने तथा पूर्व दिशा में अग्नि के स्थित होने से निकलने का मार्ग न पाकर श्रान्त हुआ-हुआ औषधियों के मूल में ही अन्तर्हित हो गया ।

'ते ह देवा ऊचुः । क्व नु विष्णुरभूत् क्व नु यज्ञोऽभूदिति ते होचुश्छन्दोभिरभितः परिगृहीतोऽग्निः पुरस्तान्नापक्रमणमस्त्यत्रैवान्विच्छतेति तं खनन्त इवान्वीषुस्तं त्र्यंगुलेऽन्वविन्दंस्तस्मात्त्र्यंगुला वेदिः स्यात्तदु हापि पाञ्चिस्त्र्यंगुलामेव सौम्यस्याध्वरस्य वेदिं चक्रे ।'

देवता बोले, वह विष्णु कहां गया, वह यज्ञ कहां चला गया ? क्योंकि वह विष्णु तीन ओर छन्दों से घिरा हुआ है और उसके चौथी ओर

ग्रग्नि है । ग्रतः वह कहीं ग्रन्यत्र तो क्रमण कर सकता नहीं । ढूंढो, वह यहीं कहीं छिपा होगा । इस पर उन्होंने पृथिवी खोदनी शुरू की, त्र्यंगुल भूमि जब खोद ली तब वह मिल गया । ग्रतः वेदि त्र्यंगुल भूमि खोदकर बनानी चाहिये । पाञ्चि नामक ऋषि ने सोम याग के लिये भी त्र्यंगुल भूमि खोद कर वेदि का निर्माण किया था । इस सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य दूसरा पक्ष दर्शाते हैं—

'तदु तथा न कुर्यात् । ओषधीनां वै स मूलान्युपाम्लोचत्तस्मादोषधीनामेव मूलान्युच्छेतवै ब्रूयाद् यन्वेवात्र विष्णुमन्वविन्दंस्तस्माद् वेदिर्नाम ।'

वे कहते हैं कि त्र्यंगुल भूमि न खोदे, क्योंकि वह यज्ञात्मक विष्णु ग्रौषधियों के मूल मे ग्रन्तर्हित हुग्रा-हुग्रा है, सामान्य भूमि मे नहीं, इसलिये ग्रौषधियों के मूल का ही उच्छेदन किया जावे ग्रौर क्योंकि ग्रौषधियों के मूल में विष्णु का विन्दन हुग्रा है इसलिये ग्रौषधियों का मूल ही वेदि है ।

ग्रब हम इन प्रकरणों का क्या भाव हो सकता है इसको स्पष्ट करते हैं ।

बीज विष्णु का वामन रूप है । इसी बीज को त्र्यंगुल अर्थात् तीन अंगुल पृथिवी खोदकर बोया जाता है । बोने के पश्चात् वह बीज अंकुरित होकर ऊर्ध्वारोहण करता है । यह बीज तीन ओर से अंकुरित न होकर एक ही दिशा से अंकुरित होता है। हम वैदिक-भाव में कह सकते हैं कि बीज मे विद्यमान आरोहण-शक्ति तीन ओर छन्दों से आवृत है, घिरी हुई है इसीलिये वह बीज इन तीन दिशाओं से अंकुरित नहीं हो सकता है। जिस ओर से वह बीज अंकुरित होता है, वह बीज के अंकुरित होने की वह दिशा पुरस्तात् शब्द से द्योतित हुई है। बीज के इस सामने वाले (पुरस्तात्) सिरे पर अग्नि विद्यमान होती है । यह अग्नि और विष्णु दोनों संयुक्त होकर अंकुर रूप में आरोहण करते हैं। यह बीज तीन अंगुल (त्र्यंगुल) भूमि खोदकर बोया जाता है। अतः त्र्यंगुल वेदि का विधान हुआ है । जिस समय देवों ने विष्णु का अन्वेषण किया वह पूर्णरूपेण बीज की अंकुरित अवस्था न होकर उसकी विशकलित अवस्था है ऐसा हम कह सकते हैं। इस अवस्था में औषधियों के मूल भूमि में फूट पड़ते हैं जो कि

पृथिवी से रसाकर्षण कर बीज को अंकुरित करते हैं। इसी कारण विष्णु को ओषधियों के मूल में अन्वेषण करने का विधान हुआ है। कहा भी है—

ओषधीनां वै स मूलान्युपाम्लोचत्।

वह विष्णु ओषधियों के मूल में जा छिपा है। अर्थात् बीज में विद्यमान वह वामन रूप वैष्णव शक्ति ओषधियों में जा पहुंची है। जहां से अंकुरित होकर उसके तीन क्रमण होते हैं। वे तीन क्रमण कुछ-कुछ इस प्रकार समझे जा सकते हैं। मूल, मध्य, पुष्प फल। यह पार्थिव दिशा है जिसे ध्रुवा दिशा कहा है, इसका अधिपति विष्णु है। (ध्रुवा दिग्विष्णुरधिपतिः०) यह विष्णु अग्निमय है जो कि पृथिवी से रस का आकर्षण कर ऊर्ध्व को भेजता रहता है। इसकी ऊर्ध्वगति इस अग्नि और विष्णु के प्रभाव से है और विष्णु का विन्दन व उपलब्धि त्र्यंगुल भूमि में है। अतः पृथिवी की ऊपरली परत से त्र्यंगुल नीचे विष्णु-भाग की वेदि का निर्माण होता है। इससे यह स्पष्ट है कि ये सब ओषधियां और वनस्पतियां आदि निरन्तर विष्णु-याग कर रही हैं। इस प्रकार वामन का

यह संक्षिप्त विवेचन हमने आपके समक्ष रक्खा।

विष्णु और वलगहन

विष्णु और वलगहन का भी परस्पर सम्बन्ध है। यजुर्वेद ५।२३–२५ मन्त्र मे इनके सम्बन्धों पर प्रकाश डाला गया है। तै. सं. १।३।२ के सायण-भाष्य में आता है—

रक्षोहणो वलगहनो वैष्णवान् खनामि०।

कल्पः—

दक्षिणस्य हविर्धानस्याधस्तात् पुरोक्षं चतुर उपरवानवान्तरदेशेषु प्रादेशमुखान् प्रादेशान्तरालान् करोति रक्षोहणो वलगहनो वैष्णवान् खनामीति खनति।

इसका तात्पर्य शरीर के क्षेत्र में निम्न प्रकार है—हविर्धान मस्तिष्क है। दक्षिण हविर्धान अर्थात् मस्तिष्क के निचले पार्श्व मे चार उपरव (कूपक=उपरव=Four ventricles) खोदे जाते हैं। इन उपरवों (Ventricles) का देवता विष्णु

होता है। इसी दृष्टि से सायणाचार्य ने लिखा है कि—

'विष्णुर्देवता येषामुपरवाणां ते वैष्णवा ।'

अर्थात् मस्तिष्क में सोमरस से परिपूर्ण चार उपरवों (Four ventricles) का स्वामी विष्णु होता है। इसी तथ्य को तै सं. ६।२।११ में निम्न शब्दों द्वारा अभिव्यक्त किया है—

'शिरो वा एतद् यज्ञस्य यद्धविर्धानं प्राणा उपरवा हविर्धाने खायन्ते तस्माच्छीर्षन्प्राणा. ।'

अर्थात् इस पुरुष-यज्ञ का यह शिर हविर्धान है और इस शिर में विद्यमान प्राण उपरव हैं। ये प्राण रूपी उपरव सिर रूपी हविर्धान मे खोदे जाते हैं। आगे आता है कि—

अधस्तात् खायन्ते तस्मादधस्तनाच्छीर्ष्णः प्राणाः।

ये उपरव नामक प्राण सिर में नीचे की ओर खोदे जाते हैं। सायणाचार्य ने भाष्य मे लिखा है कि—

यस्माद्धविर्धानस्याधोभागे भूमावुपर-वास्तस्माल्लोकेऽपि शिरस्यूर्ध्वकपालादध एव प्राणसचार. ।

अर्थात जिस प्रकार हविर्धान के निचले भाग मे भूमि पर 'उपरव' होते हैं उसी प्रकार लोक मे भी सिर में उर्ध्व कपाल से नीचे की ओर प्राण का संचार होता है।

अब हम यदि यजुर्वेद ५।२३–२५ मन्त्रों का स्पष्टीकरण करें तो कुछ-कुछ इस प्रकार कर सकते हैं। उदाहरणार्थ तैत्तिरीय-संहिता का यह मन्त्र भाग है—

रक्षोहणो वलगहनो वैष्णवान्खनामीत्याह वैष्णवा हि देवतयोपरवा. ।

--तै स ६।२।११

इसका भाव यह है – राक्षसों को हनन करने वाले तथा वलगों का हनन करने वाले विष्णु सम्बन्धी उपरवों को मैं खोदता हूं। इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि 'वलग' मस्तिष्क मे ही कोई विजातीय तत्व है, जिसको हनन करने का विधान

हुआ है । अब हम 'वलग' के स्वरूप पर विचार करते हैं ।

वलग – वलग की व्युत्पत्ति कुछ-कुछ इस प्रकार हो सकती है—

वलं गच्छति गमयति प्रापयति वा ।

अर्थात् बल को प्राप्त होने व प्राप्त कराने वाला तत्व वलग है । 'वलग' क्या तत्व है ? यह हम गुरुकुल से प्रकाशित 'वैदिक-अध्यात्म-विद्या' में विस्तार से प्रदर्शित कर चुके हैं । संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि वल इन्द्रियों को आवृत करने वाला आवरण व मल है इसे हम श्लेष्मा या वलगम कह सकते हैं । यह दूषित श्लेष्मा है । चक्षु इन्द्रिय को घेरने वाला मोतिया भी एक वल है, इसी प्रकार अन्य भी वल हो सकते हैं । स्थूल से ले कर सूक्ष्म रूप तक ये वल हो सकते हैं । इसी दृष्टि से अन्य सभी इन्द्रियों के 'वल' हो सकते हैं । इन्द्रियों के इस 'वल' नामक आवरण को पैदा करने वाला विजातीय तत्व दूषित रस वलग है । बाह्य कर्म काण्ड की दृष्टि से सायणाचार्य ने 'वलग' निम्न रूप में प्रदर्शित किया है—

जीर्णकटपटादिखण्डबद्धा अस्थिनखरोम-पादपांसुप्रभृतयो विरोधिनां मारणार्थं ये भूमौ निखन्यन्ते ते वलगास्तान्घ्नन्ति इति वलगहनः ।

अर्थात् विरोधियों को मारने के लिए अस्थि, नख, रोम तथा पैर की धूलि आदियों को जीर्ण शीर्ण चटाई व वस्त्रों के टुकड़ों से बांध कर भूमि में गाढ़ दिया जाता है तो वे वलग कहलाते हैं । इन्हें पारिभाषिक शब्दों में कृत्या-विशेष कहा जाता है । यह वलग का रूप बाह्य कर्म-कांड में है । यदि हम शरीर में इस वलग को देखना चाहें तो यही कह सकते हैं कि हमारे शरीर का जो विजातीय तत्व है व दूषित रस मल है, दूषित श्लेष्मा है, जिससे कि ऐन्द्रियिक दोषों व रोगों की उत्पत्ति होती है वह वलग है । यह अत्यन्त सूक्ष्म होता है । जब हमारी शारीरिक शक्ति व अपानवायु इसे शरीर से बाहर न कर सकी तो इसके विनाश का आध्यात्मिक व यौगिक उपाय वेद ने यह बताया है कि शिर के अन्दर विद्यमान चार उपरवों (Ventricles) के रस द्वारा इसका

विनाश करना चाहिए । अर्थात् इन 'उपरव' सम्बन्धी रस में वह शक्ति है, जो कि ऐन्द्रियिक आवरण को निर्माण करने वाले विजातीय तत्वों (वलग) को विनाश कर सकती हैं । ये उपाय कुछ-कुछ हठयोग की मुद्राओं में प्रदर्शित हुए हैं । तैत्तिरीय संहिता मे आता है—

'असुरा वै निर्यन्तो देवानां प्राणेषु वलगान् न्यखनन् तान्बाहुमात्रे ऽन्वविन्दन् तस्माद् बाहुमात्रा खायन्ते ।

तै. स ६।२।११

निर्यन्तः पलायनोद्युक्ताः । प्राणेषु प्राण-विनाशनिमित्तम् । न्यखनन् इति नितरां भूमावन्तर्धापितवन्तः ।'

—सायणाचार्य

अर्थात् इस शरीर में से जब असुर पलायन करने लगे तो उन्होंने देवों अर्थात् इन्द्रियों के प्राणों के विनाश के लिए पार्थिव देह में वलगों को स्थापित कर दिया ।

इस प्रकार हमने संक्षेप में वलगों पर विचार

किया। ये 'वलग' मस्तिष्क मे विद्यमान इन्द्रियों के ऊपर मल व आवरण पैदा करते रहते हे जिस से कि ऐन्द्रियिक यज्ञ उच्छिन्न हो जाता है। क्योंकि विष्णु यज्ञ रूप है। अतः उतने अंश में विष्णु की समाप्ति हो जाती है और विष्णु का स्वाभाविक निवास स्थान मस्तिष्क है। मस्तिष्क के उपरवों के रस से इस उच्छिन्न विष्णु-यज्ञ को ठीक किया जाता है। अत. विष्णु का वलगों के साथ शाश्वतिक वैर है, ऐसा हमे समझना चाहिए।

शिपिविष्ट

जो मनुष्य यह समझता है कि वेदादि शास्त्रों में प्रयुक्त प्रजनन वाचक शब्दों के तात्पर्य का स्पष्टीकरण केवल उस भौतिक काम से हो सकता है कि जिसका मुख्य लक्ष्य स्त्री है, वे वैदिक विचार धारा की गुह्य प्रणाली को नहीं समझते। उनका तत्सम्बन्धी समग्र जगत् उदर व उससे नीचे के अंगों में समाविष्ट होता है। परन्तु हमें यह समझ लेना चाहिए कि स्त्री आदि से सम्बन्ध

रखने वाले वासनाजन्य भौतिक काम का वर्णन वेदों में अधिक नहीं है । वेदों में प्रयुक्त माता, पिता, पुत्र, पति, पत्नी, पुरुष, स्त्री, शिश्न, योनि, रेतस् आदि अनेकों पद आधुनिक समय में व्यवहृत होने वाले अपने रूप, सीमा व क्षेत्र को अतिक्रम किये होते हैं । वेद प्रायः कामजन्य उत्पत्ति के अतिरिक्त इन्द्रियों व अन्य विविध शक्तियों की उत्पत्ति की ओर भी निर्देश करते हैं और कई स्थलों पर तो सामान्य भौतिक प्रजनन में उनकी सार्थकता नहीं भी घटती । इसी प्रकार का एक विवादास्पद शब्द शिपिविष्ट भी है । यह विष्णु का वाचक है, प्राचीन काल से ही इसके कुत्सित व प्रशंसापरक उभयविध अनेकों अर्थों को ग्रहण किया जाता रहा है । कई विद्वानों को इस रहस्यमय शब्द में कुत्सितार्थ की गन्ध आती है तो दूसरे विद्वान् उनका खण्डन कर इस शब्द को प्रशंसार्थ में घटाने का प्रयत्न करते हैं । ये दोनों प्रकार की प्रवृत्तियां शैव मन्दिरों में प्रचलित लिंग पूजा (Fallas-worship) में भी दृष्टिगोचर होती हैं । काम के उपासक इसका सम्बन्ध पूर्ण रूप में काम-वासना से करते हैं तो इसके विरोधी इसका

भाव दूसरा ही प्रदर्शित करते हैं । उनका कथन है कि पौराणिक काल से प्रचलित शैव मन्दिरों में लिंग-पूजा कामातुरों की पूजा नहीं है । काम-वासना से कभी भी पूजा व अर्चना नहीं हो सकती । वे इसे ज्योतिलिङ्ग व आकाशलिङ्ग का प्रतीक मानते हैं जिसका तात्पर्य यह है कि प्रकाश व ज्योति की ऊर्ध्वगति । यदि इसका काम से किसी प्रकार का सम्बन्ध जोड़ना भी हो तो यह कहा जा सकता है कि मानव-शरीर में यह उस रेतस् का द्योतक है जो कि ऊर्ध्वगति करता है और फिर शिव में काम का अत्यन्ताभाव माना जाता है । उसने काम-देव को भस्म किया था अतः शिवलिंग के माध्यम से लिङ्ग-पूजा (Fallas worship) कैसे सम्भव है ? इसी भांति प्राचीनकाल से शिपिविष्ट शब्द की भी कुत्सित व प्रशंसापरक व्याख्याएं होती रही है। इसका साक्षी निरुक्त है । वहां आता है—

"शिपिविष्टो विष्णुरिति विष्णोर्द्वे नामनी भवतः । कुत्सितार्थीयं पूर्वं भवतीत्यौपमन्यवः ।"

नि. अ. ५ ख ८ ।

विष्णु के दो नाम हैं शिपिविष्ट और विष्णु। औपमन्यव आचार्य का मत है कि विष्णु के इन दोनों नामों मे पूर्व का शिपिविष्ट नाम कुत्सित अर्थ वाला है। इस कुत्सितार्थ की पुष्टि में इस शब्द की "शेप इव निर्वेष्टितः" यह व्युत्पत्ति की गई है। शेप (प्रजननेन्द्रिय) किस से वेष्टित है ? त्वचा से। विष्णु भी वेष्टित है, प्रश्न है किससे ? सर्व शरीर-व्यापी होने से त्वचा से। आप्टे कृत संस्कृत कोष मे शिपि का एक अर्थ त्वचा भी दिया है। अतः शिपिविष्ट में शिपि पद को "शेप" (प्रजननेन्द्रिय) की विकृति मानने पर कुत्सितार्थ की अभिव्यक्ति होती है। परन्तु इसके विपरीत कुत्सितार्थ का विरोध करने वाले यास्क आदि विद्वान् इसका प्रशंसापरक अर्थ मानते हैं। उनका कथन है—

अपिवा प्रशंसा नामैवाभिप्रेतं स्यात्।

अर्थात् यह नाम प्रशंसापरक ही है। उनके मत में शिपि पद शेप का द्योतक नहीं है, यह रश्मि का द्योतक है। यह विष्णु रश्मियों अर्थात् ज्योतिर्मय किरणों से वेष्टित है। देह के आभ्यन्तर गुह्य स्थान मे इस गुह्य व गूढ़मनुप्रविष्ट विष्णु

को ज्योतिर्मय किरणों से परिवेष्टित हुआ-हुआ देखना व उसका साक्षात्कार करना ऋषि-मुनियों का चरम लक्ष्य रहा है । औपमन्यव आचार्य ने निरुक्त प्रदर्शित प्रथम मन्त्र में कुत्सितार्थ का दर्शन किया तो यास्काचार्य ने द्वितीय मन्त्र में प्रशंसापरक अर्थ प्रदर्शित किया और यह इंगित किया कि प्रथम मन्त्र में भी प्रशंसापरक अर्थ का ही दर्शन करना चाहिये ।

क्या शिपिविष्ट वामन है ?

निरुक्त में शिपिविष्ट और विष्णु इन दो नामों का एक साथ प्रयोग कई आचार्यों के मत में कुत्सितार्थ और अकुत्सितार्थ के विवेचन के लिये है । पर हमारे विचार में एक अन्य प्रयोजन भी है और वह यह कि विष्णु का पूर्व रूप शिपिविष्ट है तो अन्तिम रूप स्वयं विष्णु है । प्रथम शिपिविष्ट रूप शिशुरूप है, बालक रूप है, जिसे कि निरुक्ताचार्य स्कन्द ने बाल रश्मियों से आवृत माना है और प्रशंसापरक अर्थ किया है । जैसा कहा भी है—

आचार्यमतेन यदा तु शिपयो बाल-रश्मय उच्यन्ते तैराविष्ट इति, एवमेतत् प्रशंसानामैवाभिप्रेतं स्यात् ।'

— स्कन्द ।

अर्थात् आचार्य यास्क शिपि का अर्थ बाल-रश्मि मानते है। उन बाल-रश्मियों से आविष्ट होने के कारण यह शिपिविष्ट है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि शिपिविष्ट शिशु रूप है, जिसको कि दूसरे शब्द मे वामन भी कह सकते हैं। शिपिविष्ट को वामन मानने मे एक दूसरा भी हेतु है और वह यह है—

"किमित् ते विष्णो परिचक्षयं भूत्० ।"

मन्त्र में जो विष्णु को एक प्रकार से उलहाना दिया गया है, वह कुत्सितार्थ के कारण नहीं है, परन्तु बाल-रश्मियों से आवृत शिपिविष्ट के वामन रूप के लिये है। क्योंकि विष्णु का शिशु व वामन रूप शत्रुओं का सहार नहीं कर सकता। भक्त तो उस उग्र व प्रबल रूप का दर्शन करना चाहता है जो कि इसी मन्त्र में 'अन्यरूपः समिथे बभूव'

शत्रुओं के साथ संग्राम मे युद्ध करते हुए दृष्टि-गोचर होता है। इस प्रकार हृदय-गुहा में स्थित बाल-रश्मियों से आवेष्टित शिपिविष्ट अर्थात् विष्णु का दर्शन करना पर्याप्त नहीं है अपितु शत्रुओं के संहारक उग्र भयंकर तथा समग्र ब्रह्माण्ड में व्याप्त (विष्लृ व्याप्तौ) होकर कार्य करते हुए रूप को साक्षात्कार करना योगियों को सन्तुष्ट करने वाला होता है। एक अन्य मन्त्र मे विष्णु के शिपिविष्ट रूप को प्रवृद्ध करने की आवश्यकता बतायी है जिससे यह स्पष्ट है कि शिपिविष्ट शिशु व वामन है। मन्त्र मे आता है कि 'हे विष्णु[१] ! मैं मुख से तेरे लिये वषट् क्रिया करता हू। हे शिपिविष्ट ! वषट् द्वारा प्रदत्त हवि को तू सेवन कर जिससे कि तुमको सु-स्तुति रूप मे मेरी वाणियां प्रवृद्ध करे।' ऋ. ७।१००।७

इस प्रकार उपर्युक्त प्रकरण मे शिपिविष्ट

---

१ वषट् ते विष्णवास आकृणोमि तन्मे जुषस्व
शिपिविष्ट हव्यम्। वर्धन्तु त्वा सुष्टुतयो
गिरो मे यूय पात स्वस्तिभिः सदा नः।
--यजु. ८।५५

की वामनता परिलक्षित हो रही है। अब प्रश्न कुत्सितार्थ व अकुत्सितार्थ का रह जाता है। इस सम्बन्ध में हमारा कथन यह है कि यास्क आदि उपर्युक्त आचार्यों द्वारा शिपिविष्ट का प्रशंसापरक अर्थ मानने पर भी कुत्सितार्थ का खण्डन नहीं किया जा सकता। क्योंकि जो विद्वान् पिण्ड मे शिपिविष्ट और विष्णु के रूप का दर्शन करते हैं, वे रेतस् को सोम मानते हैं और उस सोम को ऊर्ध्वारोहण प्रक्रिया द्वारा मस्तिष्क में ले जाकर साधना द्वारा व्यापक बनाते हैं अर्थात् विष्णु बनाते हैं। उनके मत मे यह रेतस् प्रारम्भ मे शिपि-शेप में ही विद्यमान होता है। इस दृष्टि से विष्णु का शिपिविष्ट नाम प्रशंसापरक ही है ऐसा नहीं कहा जा सकता। संहिताओं तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी शिपिविष्ट का कुत्सितार्थ अत्यन्त स्पष्ट है। यजु. ८।५५ मे आता है कि शरीर१ के ऊरु भाग मे विद्यमान यह वीर्य रूपी सोम जब क्रय

---

१ क्रीतो विष्णुः शिपिविष्ट उरावासन्नः।
शिपिविष्ट ऊरा आसाद्यमानः।
—काठ ३४।१४

कर लिया जाता है तब विष्णुकोटि में आता है और ऊरु प्रदेश मे विद्यमान होने के कारण शिपिविष्ट नाम को धारण करता है। अतः शास्त्रों मे शरीराभ्यन्तरवर्ती रेतस् (सोम) को विष्णु व शिपिविष्ट माना गया है। ऊर्ध्वगति द्वारा यह वीर्य प्राण तथा मानस स्तरों को पार करता हुआ मस्तिष्क में पहुंच चेतना रूप हो व्यापक बनता है। क्योंकि यह रेतस् प्रारम्भ में 'शेप' प्रजननेन्द्रिय मे ही होता है। अतः शिपिविष्ट की स्वाभाविक व्युत्पत्ति 'शेप विष्टः' करनी उपयुक्त प्रतीत होती है।

हीनरोमा

महाभारत में आता है कि रोमहीन व्यक्ति शिपिविष्ट कहलाता है। श्लोक निम्न प्रकार है—

शिपिविष्टेति चाख्यायां हीनरोमा च यो भवेत्। तेनाविष्टं तु यत् किञ्चिच्छिपिविष्टेति च स्मृतः॥

महा. शा प. ३४२,७१।

जो व्यक्ति हीनरोमा अर्थात् रोमों से रहित होता है वह शिपिविष्ट कहलाता है, इसी भांति अन्य जो भी रोमहीनत्व से आविष्ट हो उसे शिपिविष्ट की कोटि में रख सकते हैं।

मनुष्य का बालपन रोम रहित होता है, पुंस्त्व के अभिव्यञ्जक चिह्न अप्रकटित होते हैं अतः वह शिपिविष्ट अवस्था में है। मनुष्य की शिश्नेन्द्रिय में स्थित प्राण इसी दृष्टि से शिपिविष्ट है। यव, गेहूं आदि सभी ओषधियां व वनस्पतियां पृथिवी की रोम हैं। जब सृष्टि-प्रारम्भ में औषधियां वनस्पतियां आदि पृथवी पर उगी नहीं थी उस समय का पार्थिव प्राण शिपिविष्ट था। इसी भांति अब भी जब-जब उपज कम होती है, तब-तब पृथिवी का प्राण शिपिविष्ट रूप का हो जाता है। उत्पत्ति से पूर्व ओषधी मूल में रहने वाला प्राण शिपिविष्ट होता है। इसी शिपिविष्ट प्राण का वर्णन शतपथ १।२।५।८ 'सोऽयं विष्णु ग्लानिः' से प्रारम्भ हुआ है।

अतिरिक्त शिपिविष्ट

इस शिपिविष्ट नामक वीर्य को शास्त्रों में

अतिरिक्त नाम से भी स्मरण किया गया है। अतिरिक्त क्यों कहा गया है? वह इसलिए कि जो वीर्य ऊर्ध्वगति द्वारा शरीर के अणुरेणु में अभिव्याप्त हो यज्ञ को सुचारु रूप से चालू रखने तथा अङ्ग-प्रत्यङ्ग को परिपुष्ट करने आदि में प्रवृत्त हो जाता है वह विष्णु कहलाता है और जो वीर्य ऊर्ध्व में जाकर शरीर यज्ञ में प्रवर्तित व व्यापृत नहीं होता और केवल शेष में अवस्थित रहता है, वह अतिरिक्त होता है। इस अतिरिक्त वीर्य को 'ऊरा आसाद्यमान.' ऊरूभाग में विराजमान माना गया है। इसी अतिरिक्त व शिपिविष्ट वीर्य के लिए शास्त्रों में आता है—

विष्णवे शिपिविष्टाय जुहोति यद्वै यज्ञस्यातिरिच्यते। यः पशोर्भूमा या पुष्टिस्तद् विष्णुः शिपिविष्टोऽतिरिक्त एवातिरिक्तं दधात्यतिरिक्तस्य शान्त्या।

—तै स ३।४।१।४

अर्थात् शरीर यज्ञ से अतिरिक्त हवि को शिपिविष्ट नामक विष्णु के लिये आहुति रूप में देता

है। जो यज्ञ से अतिरिक्त बचा रहता है। जो पशु का भूमा रूप व पुष्टि रूप है वह शिपिविष्ट नामक विष्णु है उसे ही अतिरिक्त कहते हैं। शरीर में यज्ञ से अतिरिक्त वीर्य को अतिरिक्त (शिश्न) अंग धारण करता है। इस शिश्न में विद्यमान वीर्य की शान्ति के लिए ही आहुति दी जाती है। इस अतिरिक्त नामक शिपिविष्ट का वर्णन निम्न स्थलों पर भी हुआ है। तैत्तिरीय-संहिता ४।४।६।१, ७।५।५।२, काठ. संहिता ३४।४, १३।१०, १४।१०। उपर्युक्त प्रकरण का संक्षिप्त सार यह है कि जब तक वीर्य शेप (प्रजननेन्द्रिय) में विद्यमान रहता है तब तक शिपिविष्ट व अतिरिक्त आदि नामों से सम्बोधित किया जाता है पर जब ऊर्ध्वारोहण द्वारा शरीर यज्ञ को चालू करने, शरीराभ्यन्तरवर्ती विविध अङ्गों को रूप प्रदान करने, परिपुष्ट करने व दिव्यत्व को पैदा करने में व्यापृत होता है तब वह विष्णु कहलाता है। प्रजननेन्द्रिय में रहता हुआ यह वीर्य कोई उपद्रव न करे व उसका अधःपतन न हो, इसके लिए ही यह याज्ञिक उपाय किया जाता है।

शिपिविष्ट – पशु व पशुष्ठा तनु

शास्त्रों मे शिपिविष्ट को पशु[1] भी माना है और पशुष्ठा तनु भी। पशुष्ठा तनु का तात्पर्य है पशु मे स्थित तनु। शिपिविष्ट के कुत्सितार्थ तथा अकुत्सितार्थ दोनों अर्थ किए जाते हैं। अकुत्सितार्थ दृष्टि से बाल-रश्मियों में प्रविष्ट विष्णु भगवान् का रूप शिपिविष्ट है। यहां पशु ज्योति व प्राण हैं। कुत्सितार्थ दृष्टि से शेप अर्थात् प्रजननेन्द्रिय मे प्रविष्ट वीर्य रूपी प्राण शिपिविष्ट है। शरीर में प्रमुख पशुभाव शेप मे ही विद्यमान होता है। इसलिए शिपि का पशु[2] अर्थ शेप मे चरितार्थ हो जाता है। परन्तु गौण भाव से शरीर के अन्य शक्ति-केन्द्र भी पशु माने जाते हैं। क्योंकि यह वीर्यरूपी प्राण उनमें भी प्रवेश करता है।

---

१ पशवो वै शिपिविष्टम्। --मै स १।६।८
एषा वै प्रजापते पशुष्ठा तनूर्यत् शिपिविष्टम्।
—मै. स. १।११।६

२ यज्ञो वै विष्णु पशव. शिपि. यज्ञ एव पशुषु प्रतितिष्ठति।
—तै. स. २।५।५।२

यह वीर्य ही ब्रह्मचर्यकाल में ऊर्ध्वारोहण द्वारा शरीर के बाह्य व आभ्यन्तरवर्ती अंगों – जिन्हें कि वैदिक ग्रन्थों में पशु कहा जाता है – का निर्माणकर्ता होने से उनके तनु अर्थात् शरीर के निर्माण में कारण बनता है, एक प्रकार से वह स्वयं पशु का रूप धारण कर लेता है। इसलिए यह स्वयं पशु भी है और अन्य अङ्गों में प्रविष्ट हो कर तत्तनु धारण करने के कारण पशुष्ठा तनु भी कहा जा सकता है। शिपिविष्ट को चाहे बाल रश्मि, ज्योति, प्राण व अन्य कोई अंग मानें सब इस वीर्य के प्रभाव से स्वसत्ता को धारण किए हुए हैं। इन आन्तरिक शिपि नामक पशुओं में यह यज्ञ रूप में प्रविष्ट हुआ हुआ है, इसलिए 'शेप' नाम आजाने मात्र से कुत्सितार्थ मान लेना, हमें उपयुक्त नहीं प्रतीत होता।

पशुष्ठा तनु का स्पष्टीकरण हम इस भांति कर सकते हैं कि प्रजापति के कई तनु हैं। देवतनु, असुरतनु, मनुष्यतनु तथा पशुष्ठातनु आदि। शिपिविष्ट पशुष्ठातनु है।

अर्थात् प्रजापति के इस तनु भाग से पशुत्व का निर्माण होता है और यह शिपिविष्ट प्राण

प्रजननेन्द्रिय मे निवास करता है । ता. ब्राह्मण १२।६।२५.२६ में आता है—

'एषा वै प्रजापतेः पशुष्ठा तनूर्यच्छिपिविष्टः प्राणो वै बृहत् प्राण एव पशुषु प्रतितिष्ठति ।

अर्थात् यह शिपिविष्ट प्रजापति का वह तनु है जो कि पशुओं में प्रतिष्ठित है । इसे ही दूसरे शब्दों में बृहत् प्राण कहते हैं। बृहत् प्राण मस्तिष्क व द्युलोक का प्राण है । अतः प्रश्न यह है कि शेप में विद्यमान प्राण बृहत् कैसे हो सकता है ? जो विद्वान् शेप को ज्योति व रश्मि वाचक शिपि से निर्मित मानते हैं, उनके मत में तो कोई समस्या नहीं, क्योंकि ज्योति व रश्मि मस्तिष्क व द्युलोक सम्बन्धी होती ही है, पर जो शेप को प्रजननेन्द्रिय मानते हे उनकी दृष्टि से समाधान यह है कि जो वीर्य शेप अर्थात् प्रजननेन्द्रिय में उत्पन्न हो कर ऊर्ध्वगति करने लगता है वही वीर्यात्मक प्राण शिपिविष्ट है । ऊर्ध्व में मस्तिष्क में पहुंच वह बृहत् प्राण का रूप धारण कर लेता है । इससे यह भी ध्वनित होता है कि जो वीर्यरूपी प्राण

प्रजननेन्द्रिय द्वारा बाहर निकल जाता है वह शिपिविष्ट नहीं है। शिपिविष्ट वही है जो अभी शरीर-यज्ञ में प्रयुक्त तो नहीं हुआ है पर भविष्य में अवश्य प्रयुक्त होगा। वह किस प्रकार प्रयुक्त होगा और उसका साधन क्या है? यह ताण्ड्य ब्राह्मण की निम्न कण्डिका मे स्पष्ट किया गया है जो कि इस प्रकार है—

विष्णोः शिपिविष्टवतीषु बृहदुत्तमं भवति स्वर्गमेव तल्लोकं रूढ्वा ब्रध्नस्य विष्टप-मभ्यतिक्रामति।'

—ता. ब्रा. १८।७।१३

अर्थात विष्णु की शिपिविष्ट नामक ऋचाओं में उत्तम बृहत् साम अर्थात् द्युलोक सम्बन्धी उत्तम स्थान का यह साम होता है। क्योंकि यह स्वर्गलोक अर्थात् मस्तिष्क मे आरोहण कर बौद्धिक सूर्य के क्षेत्र में अतिक्रान्त कर जाता है। ब्रध्न आदित्य को कहते है, शरीर में यह मस्तिष्क के ज्ञान-केन्द्रों में बिखरी रश्मियों वाला बुद्धि-सूर्य है जहां कि बाल-रूप शिपिविष्ट नामक वीर्य ऊर्ध्वारोहण द्वारा विष्णु रूप धारण कर जा पहुंचता है। अब हम

शिपिविष्ट सम्बन्धी एक और प्रकरण प्रस्तुत करते हैं। मै सं. १।६।८ मे आता है कि—

"विष्णवे शिपिविष्टाय त्र्युद्धौ घृते चरुं निर्वपेत् यद् विष्णवे विष्णु र्वै यज्ञो यज्ञमेवालब्ध यं शिपिविष्टं पशवो वै शिपिविष्टं पशूनेवावरुन्ध यत् त्र्युद्धौ त्रयोवा इमे लोका इमानेव लोकानाप्नोति यद् घृतं तेजो वै घृतं तेज एवावरुन्ध।"

अर्थात् यज्ञात्मक शिपिविष्ट के लिये तीनों लोकों में विद्यमान तेज में चरु का निर्वाप करे। उपर्युक्त प्रकरण का पिण्ड में भाव यह है कि उदर, हृदय तथा मस्तिष्क इन तीनों में विद्यमान वीर्य रूपी घृत, जो कि तेज का रूप धारण कर चुका है उसमें जो भी वस्तु (वीर्य) चरु रूप में डाली जायेगी अथवा जिस भी अङ्ग का उससे सम्पर्क होगा वह तेजस्वी रूप वाला हो जायेगा। इस प्रक्रिया मे वीर्य रूपी घृत का समिन्धन होगा। उस समिद्ध व प्रदीप्त वीर्य का स्थान ग्रहण करने के लिये शिपिविष्ट अर्थात् शेप में विद्यमान वीर्य का ऊर्ध्वारोहण होगा। इस प्रकार यह प्रक्रिया

सतत रूप मे चालू हो जायेगी। वहां 'त्र्युद्धि' शब्द तीन लोकों के लिये प्रयुक्त हुआ है। तीनों लोकों को 'त्र्युद्धि' शब्द से सकेत करने का एक प्रयोजन है और वह यह है कि त्र्युद्धि=त्रि+उत्+धि अर्थात् उदर, हृदय और मस्तिष्क इन तीनों लोकों को ऊर्ध्व मे रखना। यह तभी सम्भव है जब कि ब्रह्मचर्य-काल मे ब्रह्मचारी सदा ब्रह्म मे विचरे। स्वाध्याय द्वारा सदा मस्तिष्क में निवास करे। ब्रह्म में लीन होना, सन्ध्या-वन्दन तथा स्वाध्याय मे सलग्न रहना, शिपिविष्ट नामक वीर्य के ऊर्ध्वा-कर्षण के ये सब साधन हैं।

इन्द्र-विष्णु

विष्णु का अन्य देवों की अपेक्षा इन्द्र के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है। वेद के आधार पर विष्णु इन्द्र का युज्य सखा है—

"इन्द्रस्य युज्यः सखा।"

—ऋ. १।१२।१६।

यह सम्बन्ध इतना घनिष्ट है कि परवर्ती साहित्य में विष्णु को 'उपेन्द्र' व 'इन्द्रावरज' आदि

नामों से सम्बोधित किया जाने लगा। ऋग्वेद के एक सम्पूर्ण सूक्त में (६।६९) इन दोनों का संयुक्त रूप में वर्णन मिलता है। संयुक्त रूप में ये दोनों किस-किस कार्य का निर्वाह करते हैं। यह हम उपर्युक्त सूक्त के आधार पर देखने का प्रयत्न करते हैं।

शरीर के क्षेत्र में इन्द्र दिव्य मनः-शक्ति है और विष्णु रेतस् व वीर्य के आश्रय से रहने वाली, स्वभावतः ऊर्ध्वगामिनी सत्वात्मिका वह शक्ति है जिससे शरीर के सब यज्ञ चालू रहते हैं। जिस व्यक्ति में ये दोनों शक्तियां जागृत हो जाती हैं और सक्रिय रूप को धारण कर लेती हैं, वह व्यक्ति श्येन, सुपर्ण व गरुड़ (गरुत्मान्) का रूप धारण कर दिव्यता के नीरव निश्चल, प्रशान्त व ज्योतिर्मय अनन्त आकाश में ऊर्ध्व की ओर उड़ान भरता है (उरु चक्रमाथे) प्रश्न यह है कि कौनसा कर्म है जिसके प्रभाव से ये दोनों शक्तियां उद्बुद्ध हो संयुक्त रूप में भक्त यजमान को ऊर्ध्व में ले चलती हैं। वह कौनसा अन्न है जिसके भक्षण से ये शक्तियां जागृत होकर ऊर्ध्व-गति करती हैं, उस विशिष्ट कर्म व अन्न का संकेत ऋ. ६।६९।१

में हुआ है। ये दोनों शक्तियां आविर्भूत होकर शरीर मे प्रसुप्त पड़ी अन्य दिव्य शक्तियों का उत्थान करती हैं। शक्तियों को उठाना व जागृत करना वैदिक-भाषा मे उक्थ (उत्थानात् उक्थम्) कहलाता है। इन दोनों का एक कार्य यह है कि ये सब प्रकार की बुद्धियों को पैदा करते हैं। कहा भी है "जनितारा विश्वासां मतीनाम्" अर्थात् ये दोनों सर्व प्रकार की मतियो के उत्पादक हैं, और मति व बुद्धि के सर्व प्रकार के आह्वानों का सेवन करते हैं।

ये दोनों सोम से भरे कलश हैं जो कि हृदय और मस्तिष्क को द्योतित करते हैं। इनमें मस्तिष्क का अधिपति विष्णु है और हृदय का इन्द्र। ये दोनों सोमपान की मस्ती में बहुत व्यापक रूप में क्रमण करते हैं (सोमस्य मद उरु चक्रमाथे)। इन दोनों के सहचार से जीवन में मस्ती रहती है। मनुष्य जीवन के आनन्द का रहस्य यही है कि हृदय और मस्तिष्क शक्ति को परस्पर सयुक्त-रूप मे रक्खा जाये। इन दोनों मे सहचार सन्तुलन, समन्वय किस प्रकार रहे यही एक कठिन कार्य है। ये दोनों अन्तरिक्ष को श्रेष्ठ व विस्तृत कर देते हैं

"अकृणुतान्तरिक्षं वरीयः ।" अन्तरिक्ष शरीर के क्षेत्र में हृदय मन व इन्द्रियां हैं। ये सब सूक्ष्मशक्ति सम्पन्न तथा सर्व श्रेष्ठ बन जाती हैं। हृदय, मन व इन्द्रियां आदि का यह सूक्ष्म शरीर इन्द्र के आधिपत्य मे है। इसका व्यापक व दिव्य शक्ति सम्पन्न बनना विष्णु की कृपा पर आश्रित है। इसी तथ्य को ऋ. ८।१००।१२ में स्पष्ट किया गया है। इन्द्र का सखा विष्णु विस्तृत क्रमण करता है तो द्युलोक व मस्तिष्क मे वृत्र द्वारा अवरुद्ध दिव्य शक्तियां जिन्हें कि मन्त्र में 'सिन्धु' शब्द से कहा गया है। वृत्र-विनाश के पश्चात् हृदय रूपी अन्तरिक्ष के अधिपति इन्द्र की ओर प्रवाहित होने लगती हैं (इन्द्रस्य यन्तु प्रसवे विसृष्टाः) ये दोनों 'अग्रद्वाना' सोमाग्रस्य शुक्रस्यात्तारौ (सायणाचार्य)

अर्थात् सर्व श्रेष्ठ (अग्र) सोम के भक्षण करने वाले हैं। सर्व श्रेष्ठ सोम, शुक्र व वीर्य है, शुद्ध वीर्य को शुक्र कहते हैं जब ऊर्ध्वारोहण द्वारा यह वीर्य हृदय व मस्तिष्क मे पहुंचता है तब इसका भक्षण होता है। इसी दृष्टि से (घृतासुती= घृताशौ) ये घृत (वीर्य) रूपी अन्न को खाने वाले माने गये हैं। यहां सामान्य घृत का भी ग्रहण

किया जा सकता है। ब्राह्मण ग्रन्थ में इन दोनों के सहचार को निम्न रूप में दर्शाया है। 'ताण्ड्य महा ब्राह्मणः।' ८ ७।५ में आता है कि—

वीर्यं वा इन्द्रो यज्ञो विष्णुर्वीर्य एव यज्ञे प्रतितिष्ठति।

अर्थात् वीर्य इन्द्र है और विष्णु-यज्ञ है, यह वीर्य अर्थात् शक्ति-रूप इन्द्र यज्ञ में प्रतिष्ठित रहता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि ब्रह्माण्ड व पिण्ड में जहां-जहां भी यज्ञ हो रहे हैं। वहां-वहां उस यज्ञ रूप कर्म में शक्ति तो इन्द्र है और यज्ञरूप कर्मकाण्ड व क्रियाकलाप विष्णु है। यह इन्द्र इस शरीर रूपी यज्ञ का अधिष्ठाता है तो विष्णु इन यज्ञों को चालू रखने वाला मैनेजर है। वृत्रासुर अर्थात् शरीर की दिव्य शक्तियों के केन्द्रों पर पड़े आवरण (वृत्र) को विनष्ट करने में दोनों की शक्तियां एक समान कार्य करती हैं। ये दोनों एक दूसरे से किसी प्रकार कम नहीं हैं। वृत्रासुर के साथ युद्ध में दोनों में से कोई भी पराजित होने वाला नहीं है।

विष्णु-सूक्त

(ऋ. १।१५४ सूक्त)

ऋषिः– दीर्घतमा, देवता – विष्णुः,
छन्दः–त्रिष्टुप्, स्वरः–धैवतः

विष्णो र्नु कं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि
विममे रजांसि । यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं
विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः ॥१॥

अर्थ —- मुझ दीर्घतमा में वह दिव्य-दृष्टि आविर्भूत हो गई है कि मै (नु) तुरन्त (विष्णोः वीर्याणि) विष्णु के पराक्रमों को (कं प्रवोचम्) सुख पूर्वक प्रवचन कर सकता हूं । (यः) जिस विष्णु ने (पार्थिवानि रजांसि) पार्थिव लोकों को (विममे) माप लिया अथवा निर्माण किया । (य. उरुगायः) जो विस्तृत गति वाला विष्णु (त्रेधा विचक्रमाणः) तीन प्रकार से विक्रमण करता हुआ (उत्तरं सधस्थं) उत्तर देवसदन द्युलोक को (अस्कभायत्) थामे हुए है ।

यह सूक्त सर्वव्यापी विष्णु भगवान् पर तो घटता ही है, पर हमने यहां शरीर के क्षेत्र में वीर्य के आश्रय से कार्य करने वाली वैष्णव शक्ति को प्रमुख रूप से लिया है। पार्थिवानि रजांसि – स्थूल दृष्टि से इस ब्रह्माण्ड को दो भागों में विभक्त किया जाता है। वे दो विभाग द्यावा-पृथिवी हैं। परन्तु शास्त्रों में इन दो विभागों को भी अन्य दृष्टियों से कई अवान्तर विभागों में विभक्त किया गया है। इनके छः विभाग भी किये गये हैं जो कि निम्न प्रकार हैं—

'तिस्रः दिवस्तिस्रः पृथिवीः।'

—अथर्व. ४।२०।२

'द्यौर्भूमिस्त्रयोऽवरपरं श्रिताः।'

—अथर्व ११।३।२०

अर्थात् तीन पृथिवी लोक हैं और तीन द्युलोक हैं। इस विषय को गुरुकुल कांगड़ी से प्रकाशित 'वैदिक-अध्यात्म-विद्या' नामक पुस्तक के 'षडहन्' प्रकरण में विस्तार से प्रदर्शित किया गया है। यहां केवल इतना ही कहना है कि तीन पार्थिव लोकों अर्थात् अन्नमय (स्थूल पृथिवी)

प्राणमय (वायु लोक) मनोमय (चन्द्रलोक) लोकों का ग्रहण करना अभीष्ट है । इन उपर्युक्त तीनों लोकों का तो उसने विक्रमण किया है और ऊर्ध्वस्थित द्युलोक – जिसे कि मन्त्र में 'उत्तरं सधस्थं' कहा है – को उसने अपनी शक्ति व महिमा से थामा हुआ है ।

'द्यौर्वाउत्तरं सधस्थं ।'

—श. प ८।६।३।२३, ६।२।३।३५

शरीर मे वह विष्णु अन्नमय, प्राणमय तथा मनोमय लोकों को तीन पदों से अर्थात् तीन प्रकार की गतियों से क्रान्त कर जाता है और द्युलोक (मस्तिष्क) में वह स्वयं निवास करता है । शरीर में ग्रीवा से लेकर ऊर्ध्व तक तीनों द्युलोको की स्थिति है । इन तीनों द्युलोकों के प्रवेश द्वार का वह रक्षक माना गया है । यह द्वार गर्दन व कण्ठ मे है । इसी कारण विष्णु की स्थिति कण्ठ में मानी गई है ।

प्र तद् विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः
कुचरो गिरिष्ठाः । यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणे-
ष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ॥२॥

अर्थ — (भीमः) भयकर (कुचरः) पृथिवी पर विचरने वाले (गिरिष्ठाः) पर्वतों पर निवास करने वाले (मृगः न) सिंह के समान (भीमः) आसुरी शक्ति के प्रति भयंकर (कुचर.) तीनों पार्थिव लोकों में विचरने वाला तथा (गिरिष्ठाः) द्यु व मस्तिष्क में रहने वाला (तत् विष्णु) वह विष्णु (वीर्येण) अपने पराक्रम के कारण (प्रस्तवते) प्रकृष्ट रूप में स्तुति किया जाता है। (यस्य) जिस विष्णु के (उरुषु) विस्तृत (त्रिषु विक्रमणेषु) तीनों विक्रमणों में (विश्वा भुवनानि अधिक्षियन्ति) समग्र भुवन निवास करते हैं।

तत् पद लिंग व्यत्यय से 'सः' के स्थान में प्रयुक्त हुआ है। पर अन्य कई विद्वानों की दृष्टि में यह विष्णु के वीर्य-कर्म को अधिक द्योतित करता है। अतः 'तत् विष्णुः' से विष्णु का वीर्य कर्म भी लिया जा सकता है। लोक में 'इति सायणः, इति दयानन्दः' आदि प्रयोग सायण व दयानन्द के व्यक्तित्व के द्योतक न हो कर उनके कथनों व कर्मों आदि के निर्देशक होते हैं। इसी भांति 'तत् विष्णुः' से विष्णु के ऊर्ध्वारोहण रूपी

उस वीर्य-कर्म का भी ग्रहण किया जा सकता है। 'स्तवते' प्रयोग कर्म वाच्य में समझना चाहिए। मृग अर्थात् सिंह से विष्णु की उपमा आसुरी शक्ति के विनाश के निमित्त से है। विक्रमणों के समय वह विष्णु मृग (सिंह) के समान उसकी खोज में रहता है। 'गिरिष्ठाः' पद से पर्वत वासी सिंह के तुल्य पर्वतीय (मस्तिष्कस्थ) विष्णु का ग्रहण करना ही उपयुक्त है। मस्तिष्क रूपी पर्वत से वह अर्वाङ्-क्रमण द्वारा शत्रु-विजय किया करता है। यास्क के अनुसार 'कुचरः' पद के दो अर्थ हैं एक तो कुत्सित कर्म करने वाला और दूसरे सर्वत्र विचरने वाला। यह दोनों अर्थ यहां ग्रहण किये जा सकते हैं। हिंसा स्वतः कुत्सित-कर्म है पर आसुरी-शक्ति की हिंसा यहां अभीष्ट है।

प्र विष्णवे शूषमेतु मन्म
गिरिक्षित उरुगायाय वृष्णे
य इदं दीर्घं प्रयतं सधस्थ-
मेको विममे त्रिभिरित् पदेभिः ॥३॥

(गिरिक्षिते) पर्वतवासी (उरुगायाय) विस्तृत गति वाले (वृष्णे) शक्ति की वृष्टि करने

वाले (विष्णवे) विष्णु के प्रति मेरा (शूषं) शोषक बल की उपलब्धि के निमित्त किया गया (मन्म) स्तोत्र (प्र एतु) प्रकृष्ट रूप में पहुचे । (यः) जिस (एक इत्) अकेले ही विष्णु ने (त्रिभिः पदेभिः) तीन पदों से (इदं दीर्घं) इस लम्बे (प्रयत) प्रकृष्ट रूप में नियन्त्रित (सधस्थं) पार्थिव लोक को (विममे) माप लिया ।

शूषं मन्म--सायणाचार्य ने इसका अर्थ दिया है--"शोषकत्वात् बलकरं मन्म मननीयं स्तोत्रम्' अर्थात् शत्रु के शोषण करने वाले बल को पैदा करने वाला स्तोत्र । यह उपर्युक्त अर्थ ठीक है क्योंकि विष्णु की त्रिपदी का प्रमुख प्रयोजन यह है कि आसुरी शक्ति को विनष्ट करके पृथिवी को उससे मुक्त करना । अतः भक्त तदनुकूल बल की उपलब्धि के लिये विष्णु का स्तवन करता है । 'शूषं' का सुख अर्थ यहां अधिक उपयुक्त नहीं है ।

गिरिक्षित् -- गिरिष्ठ.-- ये दोनों विशेषण विष्णु के पर्वत-निवास को प्रकट करते है। "गिरि मन्त्रादिरूपायां वाचि सर्वदा वर्तमान." यह सायणोक्ति विष्णु के किसी वैशिष्ट्य को द्योतित करने वाली नहीं है । मन्त्रों में तो विष्णु की

अपेक्षा अन्य कई देवों का वर्णन अधिक है ।

वृष्णे--यह वृषन् पद भी बहुत अस्पष्ट है । "वृषन्" का मुख्य भाव स्त्री-गर्भ में वीर्य के सिंचन से लिया जाता है । परन्तु हमारे विचार में इसका यह अर्थ अत्यन्त सीमित है । क्योंकि ऊर्ध्वरेतस् पुरुष भी वीर्य का सिंचन करते हैं पर वे ऊर्ध्वगत शारीरिक केन्द्रों में करते हैं । इससे मनुष्य मे बल की वृद्धि होती है अतः वृषन् का अर्थ बल भी है—

यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्य-
क्षीयमाणा स्वधया मदन्ति ।
य उ त्रिधातु पृथिवीमुत द्यामेको
दाधार भुवनानि विश्वा ॥४॥

(यस्य) जिस विष्णु के (मधुना पूर्णा) मधु से परिपूर्ण (त्री पदानि) तीन पद (स्वधया) स्व-धारण शक्ति व क्रिया द्वारा (अक्षीयमाणा) क्षीण न होते हुए (मदन्ति) सबको हर्षित व तृप्त करते हैं । (यः) जो विष्णु (त्रिधातु) सत्व, रज और तम आदि तीन धातुओं से निर्मित (पृथिवीं) पृथिवी को (उत) और (द्यां) द्युलोक को तथा

(विश्वा भुवनानि) समस्त भुवनों को (एकः) अकेला ही (दाधार) धारण करता है।

मधु—मधु शब्द के वेदों व वैदिक साहित्य मे अनेकों अर्थ हैं। पर यहां मधु का सोम अर्थ अधिक उपयुक्त है। शरीर में यह वीर्य है अथवा इससे भी उपयुक्त कथन यह होगा कि रक्तादि से लेकर अष्टम धातु ओज तक ये सब सोम की सीमा में समाविष्ट हो जाते हैं। इस सोम पर हमने 'आत्म समर्पण' नामक पुस्तक में विस्तार से विचार किया है। विष्णु के तीन पद उसी अवस्था में मधु से परिपूर्ण होंगे जब ब्रह्मचर्य द्वारा ऊर्ध्व-रेतस् बना जायेगा।

स्वधा—स्वधा पद प्रमुख रूप से प्रकृति का वाचक है। परन्तु इस स्थल पर स्वधा पद की व्युत्पत्ति के आधार पर यह भाव होगा कि वीर्य के ऊर्ध्वारोहण द्वारा अङ्गों में 'स्व' को धारण करने की शक्ति जब जागरूक हो जाती है और प्रकृतिस्थ हो वे अपना-अपना कार्य सुचारु-रूप से करने लगते हैं तब एक प्रकार की अलौकिक तृप्ति व आनन्द की अनुभूति होती है। इस दृष्टि से आनन्द व तृप्ति प्रदान करने के कारण स्वधा

एक सूक्ष्म व दिव्य अन्न का भी वाचक है।

त्रिधातु — समस्त सृष्टि को रचने वाली धातुएँ तीन हैं। वे सत्व, रज और तम नाम से प्रख्यात हैं। शरीर की समग्र शक्तियों के निर्माण में ये तीनों व्याप्त होते हैं।

तदस्य प्रियमभिपाथो अश्यां, नरो यत्र देव-
यवो मदन्ति । उरुक्रमस्य सहि बन्धुरित्था
विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः ॥५॥

मैं (अस्य) इस विष्णु के (तत्) उस (प्रियं पाथः) प्रिय पथ को (अभिअश्याम्) प्राप्त करूं। (यत्र) जहां (देवयवः) देवत्व के इच्छुक या विष्णु देव की प्राप्ति के इच्छुक (नरः) मनुष्य (मदन्ति) हर्षित होते हैं (हि) निस्सन्देह (सः) वह विष्णु देव का अभिलाषी भक्त (इत्था) इस प्रकार विष्णु पथ का अवलम्बन करने से (उरुक्रमस्य) विस्तृत रूप में क्रमण करने वाले विष्णु का (बन्धुः) बन्धु बन जाता है। (विष्णोः) विष्णु के (परमे पदे) परम पद में (मध्वः) मधु का (उत्सः) झरना है।

पाथः—यहां 'पाथः' शब्द पथ का वाची है ऐसा हमें समझना चाहिए। यही अर्थ यहां उपयुक्त प्रतीत होता है क्योंकि विष्णु का सर्वोत्कृष्ट रूप व एकमात्र प्रमुख कार्य त्रिपदी द्वारा ऊर्ध्व लोकों का पथिक बनना है 'पाथोऽन्तरिक्षं पथा व्याख्यातम्।' नि. ६।७ मे भी पथ का भाव प्रमुख है। मनुष्य विष्णु के इस ऊर्ध्वगामी प्रिय पथ मे एक पथिक के रूप मे उसका साथ देता है और इस प्रकार वह विष्णु के साथ देवसदन मे जा पहुंचता है जहां कि देवत्व के इच्छुक ऋषि दिव्य आनन्द की मस्ती में मगन हो रहे होते हैं। विष्णु की ऊर्ध्वगति मे साथी बनना विष्णु का बन्धु बनना है। विष्णु के परम-पद में दिव्य मधु का एक स्रोता है जिसका पान कर भक्त लोग हर्षित होते हैं। यह परम-पद शरीर मे मस्तिष्क है।

इस मन्त्र का विनियोग 'आतिथ्येष्टि' मे किया गया है और यह ऋचा प्रधान याज्या मानी गई है। आतिथ्येष्टि मे सोम राजा तथा अन्य देवों के भक्षण के लिए हवि दी जाती है। इस मन्त्र में विष्णु के परम-पद मे मधु का झरना देवों के लिए मधुपान सम्बन्धी हवि को सूचित करता है।

ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः । अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि ॥६॥

हे विष्णु और विष्णु बन्धु ! आप दोनों के (ता) उन (वास्तूनि) वास स्थानों को (गमध्यै) पहुचने की हम (उश्मसि) कामना करते हैं । (यत्र) जहां (भूरि शृङ्गाः) बड़े-बड़े बहुत से सींगों वाली (अयासः) गतिशील (गावः) गौएँ विद्यमान हैं (अत्र अह) यहां निश्चय से (उरुगायस्य) महान् गतिशील (वृष्णः) बलशाली विष्णु का (परमं पदं) सर्वोत्कृष्ट पद (भूरि) बहुत (अवभाति) चमकता है ।

सायणाचार्य ने यहां 'वाम्' पद से यजमान और यजमान-पत्नी का ग्रहण किया है । परन्तु हमारे विचार में यहां विष्णु और उसके बन्धु भक्त का ग्रहण करना चाहिए । क्योंकि ये दोनों उस परम पद अर्थात् विष्णु-धाम में निवास करते हैं, उसी परम पद को प्राप्त करने के लिए अन्य जन प्रार्थना कर रहे हैं । 'भूरि शृङ्गाः गावः' द्यु-लोकस्थ सूर्य तथा मस्तिष्क की रश्मियां हैं, ये

रश्मियां ही शृङ्ग हैं । वास्तूनि – वस निवासे । उश्मसि – वश् कान्तौ लट् लकार उत्तम पुरुष बहुवचन ।

—o—

१।१५५ सूक्त

दीर्घतमा औचथ्यः । विष्णुः, १—३ इन्द्राविष्णू । जगती

प्र व. पान्तमन्धसो धियायते महे शूराय विष्णवे चार्चत । या सानुनि पर्वतानाम-दाभ्या महस्तस्थतुरर्वतेव साधुना ।१।।

हे मनुष्यो ! (व.) तुम (धियायते) प्रज्ञा की कामना वाले (महे) महान् (शूराय) शूरवीर इन्द्र के लिए (विष्णवे च) और विष्णु के लिए (अन्धस) सोम रूप अन्न के (पान्तं) पान को (प्र अर्चत) प्रकृष्ट अर्चना के साथ प्रदान करो । (या) जो (अदाभ्या) न दबने वाले अर्थात् अदम्य इन्द्र और विष्णु (साधुना) साधु व श्रेष्ठ (अर्वतेव) अश्व के समान (मह = महसा) महान् अग्नि के द्वारा (पर्वतानां

सानुनि) पर्वतों के शिखरों पर (तस्थतु) आरूढ़ हो गये हो ।

अन्धस्—यह अनेकार्थक है । अन्धकार, अन्धा व अन्नादि इसके अर्थ हैं । इसकी व्युत्पत्तियां 'वेदार्थ-कोष' में निम्न प्रकार संगृहीत हुई है—

अन्ध इत्यन्न नामसु पठितम् । नि. २।७ ।
अदेर्नुम् धोच । उणा. ४ २१३ ।

निघण्टु में आता है—

अन्ध इत्यन्ननाम । आध्यायनीयं भवति । तमोऽप्यन्ध उच्यते । नास्मिन्ध्यानं भवति न दर्शनमयमपीतरोऽन्ध एतस्मादेव ।

अन्धस् पद की उपर्युक्त निरुक्तियों में कई विवादास्पद विषय तथा कई रहस्य भरे पड़े हैं । भक्षणार्थक अद्धातु तथा आ+ध्यै चिन्तायाम् धातुओं से अन्धस् पद की व्युत्पत्ति की जाती है । अन्धकार अर्थ में 'नास्मिन् ध्यानं भवति, अविद्यमानं ध्यानमस्मिन्' इत्यादि व्युत्पत्तियां की जाती हैं । क्या ध्यान लगाने में अन्धकार बाधक है ?

हमारे विचार में अन्नार्थक अन्धस् पद में अन्न और अन्धकार दोनों अर्थों का समावेश करना चाहिये। जब तक सोम अर्थात् रसात्मक अन्न मे चेतन को जागृत करने की शक्ति नहीं आती तब तक वह अन्धकारावृत ही है। ये सोम रयि को चेतनायुक्त बना देते हैं।

रयिं कृण्वन्ति चेतनम्।

—ऋग्वेद।

चेतन बनाने से पूर्व की अवस्था अन्धकारावृत ही होती है। इस सोमरूप अन्न (अन्धस्) का पान धी (धियायते) अर्थात् बुद्धि की उपलब्धि के लिये है। जब तक वह बुद्धि के क्षेत्र मे नहीं आता तब तक वह सोम अन्धकारावृत ही रहता है।

पर्वतानां सानुनि – पर्वतों के शिखर प्रदेश-शरीर मे मस्तिष्क के विभिन्न ऐन्द्रियिक क्षेत्र पर्वत है। उन शिखर प्रदेशों पर ये इन्द्र और विष्णु विचरण करते हैं। जिस प्रकार अत्यन्त वेगवान् तथा अक्षीण अश्व द्वारा एक अश्वारोही पर्वतों की बीहड़ व अगम्य शिखर शृङ्खलाओं पर आरोहण

कर जाता है, उसी प्रकार ये इन्द्र और विष्णु महान् अग्नि रूप अश्व पर आरूढ़ होकर मस्तिष्क के प्रच्छन्न व गुह्य स्थानों में जा पहुचते हैं। देवों को वहन करने वाला अग्नि ही है।

'अश्वो न देववाहनः, स देवां एह वक्षति।'

इत्यादि मन्त्र स्पष्ट रूप में अग्नि को देवों का वाहन बतलाते है। अतः 'अर्वा' की तरह इन्द्र और विष्णु का कोई वाहन होना चाहिये वह अग्नि ही हो सकता है। अतः 'मह' पद से अग्नि का ग्रहण किया जा सकता है।

त्वेशमित्था समरणं शिमीवतो
रिन्द्राविष्णू सुतपा वामुरुष्यति।
या मर्त्याय प्रतिधीयमानमित्
कृशानोरस्तु रसनामुरुष्यथः ॥२॥

(इन्द्राविष्णू) हे इन्द्र और विष्णु, (शिमीवतोः) शत्रु शमन के कर्म वाले (वां) तुम दोनों के (त्वेषं) प्रदीप्त व तीक्ष्ण (समरणं) सम्यक् गमन व मार्ग को (सुतपा) सुत सोम की रक्षा करने वाला (इत्था) सत्य रूप में (उरुष्यति)

रक्षा किया करता है। हे इन्द्र और विष्णु (या) जो तुम (अस्तु) प्रक्षेपणशील (कृशानोः) अग्नि की (असनां) प्रक्षेपण क्रिया को अर्थात् हवि को सूक्ष्म बनाकर चहुं ओर फेकने वाली क्रिया को जो कि (मर्त्याय) मनुष्य के लिये (प्रतिधीयमान इत्) प्रतिदान रूप में फल धारण कराने वाली है उसको (उरुष्यथः) तुम रक्षा करते हो।

शिमीवतोः—इन्द्र और विष्णु का काम शत्रु को शमन करना है। इसलिये उनके कर्म को शिमी कर्म माना है (शमयतेर्वा शक्नोतेर्वा नि ५ अ. १२ खं.)। इन दोनों की गतियां प्रदीप्त (त्वेषं) व ज्योतिर्मय मानो गई है। ये गतियां सुचारु रूप से (समरणम्) हों इसके लिये आवश्यक है कि (सुतपा) सुत सोम की रक्षा होती रहे और उस सोम का पान किया जाये। इन्द्र और विष्णु के अतिरिक्त तीसरी अग्नि है। अग्नि का रूप अस्तुः, अर्थात् प्रक्षेपण का होता है। (अस् प्रक्षेपणे) अग्नि में पतित वस्तु सूक्ष्म रूप हो चहु ओर फेंकी जाती है। इसका दूसरा रूप कृशानु का है (कृश तनू करणे)। यह हवि को सूक्ष्म करती है। अथवा मल व आवरण को कृश करती है। शरीर

के क्षेत्र मे हम यह कह सकते हैं कि आन्तरिक अग्नि प्रज्वलित होकर दिव्य शक्ति पर आये हुए आवरण को कृश करती रहती है और मलों आदि को परे फैंकती रहती है।

ता ईं वर्धन्ति मह्यस्य पौंस्यं
नि मातरा नयति रेतसे भुजे।
दधाति पुत्रोऽवरं परं पितु
र्नाम तृतीयमधि रोचने दिवः ॥३॥

(अस्य) इस सोमपायी के (पौंस्य) सामर्थ्य को (ताः) वे सोमाहुतियां (महि) महान् रूप मे (वर्धन्ति) प्रवृद्ध करती हैं। तदनन्तर वह प्रवृद्ध सामर्थ्य (मातरा) माता पिता रूप द्यावापृथिवी (शिर व अधोभाग) को (रेतसे) वीर्याधिक्य के लिये तथा (भुजे) भोगादि के लिये (निनयति) पूर्ण रूप में उपयोग में लाता है। (पुत्रः) पुत्र (उत्पत्ति काल में) (पितुः) पिता से (अवरं परम् नाम) अवर तथा पर नाम को (दधाति) धारण करता है और (तृतीयं नाम) तृतीय नाम (दिवः अधिरोचने) द्युलोक के रोचमान मण्डल में धारण करता है।

इस मन्त्र को ब्रह्माण्ड पिण्ड तथा समाज व्यवस्था मे घटाया जा सकता है।

म्रस्य— यह पद पूर्व मन्त्रोक्त 'सुतपा' सोमपायी के लिये आया है। 'ऋगर्थ दीपिका' में भी सोमपायी के लिये माना है। पर सायणाचार्य ने इस पद से इन्द्र का ग्रहण किया है। सोमपान से मनुष्य का अपना सामर्थ्य (पौंस्यं=पुंसि भव, सामर्थ्यं बलं वा) प्रवृद्ध हो जाता है। इससे मनुष्य मे द्यावा पृथिवी में विद्यमान भोगों को भोगने की शक्ति बढ़ जाती है और इससे वह वीर्य शाली बन जाता है। इस प्रवृद्ध रेतस् वाले व्यक्ति से जो पुत्र पैदा होता है वह शक्ति सम्पन्न होता है। उसका प्रथम नामकरण संस्कार पिता करता है, दूसरा आचार्यकुल मे रक्खा जाता है और तीसरा सन्यास के समय रक्खा जाता है। संन्यासाश्रम के भगवे वस्त्र रोचमान द्युलोक के अनुरूप हैं। पिण्ड मे इसका भाव यह है कि उदरादि में अग्नि नाम है, हृदय मे इन्द्र तथा मस्तिष्क में विष्णु। मस्तिष्क रोचमान द्युलोक है। इस प्रकार वीर्य की तीन गतियां व तीन नाम हैं।

तत्तदिदस्य पौंस्यं गृणीम-
सीनस्य त्रातुरवृकस्य मीढहुषः ।
यः पार्थिवानि त्रिभिरिद् विगाम-
भिरुरु क्रमिष्टोरुगायाय जीवसे ।।४।।

(इनस्य) स्वामी (त्रातु.) रक्षक (अवृकस्य) यज्ञ विघातक शत्रु से रहित (मीढहुषः) सोम का सिंचन करने वाले (अस्य) इस विष्णु के (तत्तत्) उस-उस (पौंस्यं) मानव में निहित पुरुषार्थ की हम(इत्) निश्चय से (गृणीमसि) स्तुति करते हैं (यः) जिस विष्णु ने (उरुगायाय) विस्तृत व व्यापक गतियों के लिये (जीवसे) जीवनयज्ञ को चालू रखने के लिये (पार्थिवानि) पार्थिव लोकों को (त्रिभिः विगामभि) तीन विविध गतियों से (उरु क्रमिष्ट) विस्तृत रूप में क्रमण किया ।

यह विष्णु इस यज्ञ का स्वामी है । अध्यात्म में यह शरीर-यज्ञ का स्वामी है । यह जीवन-यज्ञ इस विष्णु के ही कारण अनुप्राणित है । इस यज्ञ को चालू रखने तथा इसे समग्र ब्रह्माण्ड में अभि-व्याप्त करने के लिये ही यह तीन पाद-विक्षेप किया करता है । अन्नमय, प्राणमय तथा मनोमय ये

तीन पार्थिव लोक हैं, इनका यह क्रमण करता है। विविध गतियों द्वारा इन पर विजय प्राप्त करता है और ऊपर के तीन द्युलोक उसके निवास स्थान हैं।

अवृकस्य—

वृकवर्जितस्य रक्षोवर्जितो हि यज्ञात्मा विष्णुः। व्यैंकट माधव। वृको हिंसकः शत्र्वादिस्तद् रहितस्य॥

—सायण।

द्वे इदस्य क्रमणे स्वर्दृशो
ऽभिख्याय मर्त्यो भुरण्यति।
तृतीयमस्य नकिरादधर्षति
वयश्चन पतयन्तः पतत्रिणः॥५॥

(स्वर्दृशः) स्वः नामक प्रकाश को दर्शाने वाले (अस्य) इस विष्णु के (द्वे इत्) दो ही (क्रमणे) पाद प्रक्षेप (मर्त्यः) मनुष्य (अभिख्याय) प्रज्ञा की उपलब्धि के लिये या प्रख्याति के लिये (भुरण्यति) धारण करता है। (अस्य) इस विष्णु का (तृतीय) तृतीय पाद-विक्षेप (पतयन्तः) गति-

शील (वय) मरुत् आदि प्राण, हृदय की त्विषि अर्थात् विद्युत् तथा (पतत्रिणः) श्येन चिति आदि का चयन करने वाले साधक (चन) भी (नकि. आदधर्षति) नहीं घर्षण कर सकते।

पृथिवी और अन्तरिक्ष सम्बन्धी दो वैष्णव क्रमणों को मनुष्य प्रज्ञा की उपलब्धि के लिये धारण करता है। 'अभिख्या' शब्द निघण्टु ३।६ में प्रज्ञा नामों में पठित है। अभिख्याय इसी प्रज्ञा नामक अभिख्या से सम्बद्ध है ऐसा हमें समझना चाहिये। विष्णु के पृथिवी और अन्तरिक्ष सम्बन्धी दो क्रमण पिण्ड में स्थूल शरीर व प्राण से सम्बन्ध रखते हैं। ये दोनों क्रमण मन व बुद्धि के क्रमण के लिये अत्यन्त आवश्यक हैं। इन दोनों क्रमणों के अनन्तर ही ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी स्व का दर्शन होता है। ये ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धि के लिये तैय्यारी के पग हैं। ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी विष्णु का यह तृतीय पद इतना व्यापक व विशाल होता है कि प्राण-शक्ति की वृद्धि करने वाले तथा विविध गतियों से युक्त वेगवान् पुरुष उसका अति-क्रमण नहीं कर सकते। अथवा व्यापक कीर्ति

वाले नेता लोग भी उसको अतिक्रान्त नहीं कर सकते।

वयः=प्राणो वै वयः।

—ए १।२८

धूमो वा अस्य श्रवोवयः स
ह्येनममुष्मिंल्लोके श्रावयति।

—श प ७।३।१।२६

चतुर्भिः साकं नवतिं च नामभिश्चक्रं
न वृत्तं व्यतींरवीविपत्।
बृहच्छरीरो विमिमान ऋक्वभि-
र्युवाकुमारः प्रत्येत्याहवम्॥

(चतुर्भि नामभि साकं) चार विभागों व नामो के साथ (नवतिं) ६०-६० अंशों में विभक्त (वृत्तं चक्र न) वृत्ताकार चक्र की तरह (व्यतीन्) व्यतियों को वह विष्णु (अवीविपत्) कम्पायमान करता है अर्थात् गति देता है (बृहत् शरीर) महान् शरीर वाला वह (ऋक्वभिः) ऋगात्मक प्राणों से (विमिमानः) विविध प्रकार का निर्माण करता हुआ (अकुमारः युवा) जो

कुमार नहीं है प्रत्युत युवा है (आहवं) युद्धस्थली मे (प्रत्येति) शत्रुओं के प्रति गमन करता है।

यहां मन्त्र में वैष्णवशक्ति को सूर्य द्वारा प्रकट किया गया है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि मन्त्र मे सूर्य को स्पष्ट रूप में विष्णु नहीं माना गया है। कथानकों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सूर्य विष्णु का कटा हुआ सिर है या यह भी कह सकते हैं कि विष्णु का एक निवास स्थान सूर्य भी है अर्थात् इस महान व्यापक सृष्टि यज्ञ के अन्तर्गत इस सौर यज्ञ का संचालक यह सूर्य है। यहां मन्त्र में सूर्य और पृथिवी को ९०-९० अंश के चार भागों में विभक्त किया गया है। इस दृष्टि से इन चार विभागों के कारण इन्हें चार नामों (चतुर्भिर्नामभिः) से भी कहा जा सकता है। इन चार भागों में सृष्टि के अन्तर्गत प्राण के चार विभाग हैं। ये चतुर्विध प्राण कई अवान्तर विभागों में विभक्त हैं जिन्हें कि व्यतीन् कहा गया है। सायणाचार्य आदि भाष्यकार 'व्यति' (विशेषण अतति) का अर्थ अश्व करते हैं। ये अश्व प्राण हैं। ये प्राण ९० अंश वाले प्रत्येक विभाग मे विविध-विविध प्रकार की गति

करते हैं । इनकी गतियों व कम्पन में परिवर्तन होता रहता है । यह गति पृथिवी से लेकर सूर्य तक होती है, यह एक प्रकार का विशाल शरीर (बृहत् शरीर) बन जाता है । ऋचा अस्थि व ढांचा है ।

अस्थि वा ऋक् । श प. ७।५।२।२५

अर्थात् सृष्टि के स्थूल महाभूत ऋचा से कहे जा सकते हैं, इन ऋचा रूप भूतों में विद्यमान प्राणों द्वारा (ऋक्वभिः) विभिन्न शरीरों का निर्माण सृष्टि में होता रहता है । यज्ञमय विष्णु सदा युवा रहता है । वह कुमार नहीं होता क्योंकि शत्रुओं के प्रति युद्ध मे कुमार अवस्था अभीष्ट नहीं होती । दूसरे विष्णु वीर्य के ऊर्ध्वारोहण का रूप है । वीर्य की उत्पत्ति व उसके ऊर्ध्वारोहण का प्रसंग युवा अवस्था में ही हो सकता है ।

—०—

१।१५६ सूक्त

दीर्घतमा औचथ्यः, विष्णुः, जगती

भवा मित्रो न शेव्यो घृतासुतिर्विभूतद्युम्न
एवया उ सप्रथाः । अधा ते विष्णो विदुषा
चिदर्ध्यः स्तोमो यज्ञश्च राध्यो हविष्मता॥ १॥

(विष्णो) हे विष्णु भगवान् ! (मित्र न) मित्र की न्यांई तू हमें (शेव्य भव) सुख प्रदान करने वाला हो । तू कैसा है ? (घृतासुतिः) चहुं ओर से तेज को उत्पन्न करने वाला है (विभूतद्युम्नः) प्रभूत प्रकाश व ज्ञान वाला है (एवया) गति व रक्षा को प्राप्त कराने वाला तथा (सप्रथाः) सर्वत्र विस्तृत है । (अधा) इस कारण हे विष्णु ! (विदुषा चिद् स्तोमः) विद्वान् द्वारा तेरा किया गया स्तुति समूह (अर्ध्यः) ऋद्धि का हेतु बनता है (हविष्मता) हवि प्रदान करने वाले से निष्पन्न (यज्ञः) यज्ञ (राध्यः) सिद्धि देने वाला होता है ।

शेव्य=शेवे सुखे साधु यत् प्रत्ययः ।

घृतासुतिः=घृत तेजः आसूयते उत्पाद्यते येन सः ।

एवया =एवमयनमवनं वा याति प्राप्नोति प्रापयति वा ।

अर्ध्यः=ऋध्नोते र्यत् प्रत्ययः ।

वैष्णव यज्ञ की पूर्ति स्तुतियों तथा याज्ञिक कर्म-व्यवस्थाओं दोनों से होती है । स्तुति से वासना समाप्त होती है, सात्विकता प्रवृद्ध होती है । यह ऊर्ध्वरेता बनने में स्वाभाविक साधन है । ऊर्ध्वरेता बनने व ब्रह्मचर्य धारण के अन्य सभी उपाय वैष्णव यज्ञ की सीमा में समाविष्ट होते हैं ।

विभूतद्युम्नः=Widely famed कीथ । द्युम्न सामान्य यश (Fame) का वाचक नहीं है । वेद में द्युम्न व यशः पद दिव्य प्रकाश व ज्योति के वाचक है । द्युम्न=द्यु+मन्, द्यु=द्युलोक, मस्तिष्क ।

यः पूर्व्याय वेधसे नवीयसे
सुमज्जानये विष्णवे ददाशति ।
यो जातमस्य महतो महि
ब्रवत् सेदु श्रवोभिर्युज्यं चिदभ्यसत् । २॥

(यः) जो मनुष्य (पूर्व्याय) सर्वतः पूर्व होने वाले (वेधसे) विधाता व निर्माता (नवीयसे) सदा नवीन (सुमज्जानये) श्रेष्ठ जाया वाले, अत्यन्त आनन्द देने वाली जाया वाले या स्वयं ही जाया रूप वाले (विष्णवे) विष्णु के लिये (ददाशति) आत्मदान करता है और (अस्य महतः) इस महान की (जात) उत्पत्ति को (महि श्रवत्) सर्वोत्कृष्ट व महान् बताता है (स इत् उ) वह ही निश्चय से (युज्य चित्) सहयोगी को (श्रवोभिः) कीर्तियों से (अभ्यसत्) अतिक्रम कर जाता है, अभिभूत कर देता है।

उपर्युक्त मन्त्र को शरीर के क्षेत्र में वीर्य रूपी विष्णु के प्रति सुन्दर रूप मे घटाया जा सकता है। मनुष्य तथा अन्य प्राणियों की उत्पत्ति वीर्य से है, अत. वीर्य की पूर्व सत्ता (पूर्व्यः) स्वाभाविक है। वही "वेधस" सबका विधाता व निर्माता है। मनुष्य की नवीनता को अक्षुण्ण रखने में यह वीर्य ही सर्वोत्तम साधन है। वीर्य शाली पुरुष की ही जाया आनन्द प्रदान करने वाली होती है। वास्तव मे यह वीर्य ही स्वयं पैदा होता है और यही पैदा करने वाला है। अपने वैष्णव रूप को उत्पन्न

करने में यही जाया बनता है। इस प्रकार वीर्य के महत्व को समझने वाला व्यक्ति वीर्यशाली बन अन्य सभी साथियों को अपनी विविध शक्तियों के प्रभाव से अतिक्रान्त कर जाता है। ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धि की प्राप्ति, उत्साह, आरोग्य आदि सब कुछ वीर्य पर आश्रित है।

तमु स्तोतारः पूर्व्यं यथा विद
ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन
आस्य जानन्तो नाम चिद्विवक्तन
महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे ॥३॥

(ऋतस्य गर्भ) ऋतात्मक प्रकृति के गर्भ रूप (तमुपूर्व्यं) उस पुरातन देव को (यथाविद) यथार्थ रूप में जानने वाले (स्तोतारः) हे स्तोताओ! (जनुषा) उत्पत्ति के द्वारा उस विष्णु का तुम (पिपर्तन) प्रीणन करो। (आस्य) इस ऋत के गर्भ रूप विष्णु के (नाम) नाम को (जानन्तः) जानते हुए (चित्) भी (विवक्तन) विवेचन करो, स्तुति व प्रशंसा करो। (विष्णो) हे विष्णो! (ते महतः) तुझ महान् की (सुमतिं भजामहे) सुमति को हम भजते हैं।

सृष्टि मे भगवान् का विष्णु रूप इस मन्त्र द्वारा स्पष्ट हो जाता है । प्रकृति के दो रूप हैं ऋत और सत्य । ऋत प्रकृति का गत्यात्मक (ऋ गतौ Becoming) रूप है और सत्य (सत्-अस्ति Being) सत्ता रूप को द्योतित करता है । इन दोनों मे विष्णु भगवान की व्याप्ति प्रकृति के ऋत रूप में है । यह प्रकृति का गर्भ है । यही भाव 'एवयाः' पद का है । जब भगवान सृष्टि-यज्ञ को चालू रखना चाहते हैं, एक प्रकार से उसे स्थिर करते हैं तो प्रकृति के ऋत रूप के अन्दर गर्भ बनकर सर्वत्र ओत-प्रोत व व्याप्त हो जाते हैं । भगवान का यह विष्णु रूप होता है । इस विष्णु की विवेचना (विववतन) इसलिये करनी आवश्यक है कि जिससे मनुष्य सृष्टियज्ञ के गूढ़ से गूढ़ रहस्यो का जानकार बन जाये और यह जान जाये कि इन सबके गर्भ मे विष्णु की शक्ति कार्य कर रही है ।

तमस्य राजा वरुणस्तमश्विना
ऋतुं सचन्त मारुतस्य वेधस. ।
दाधार दक्षमुत्तममहर्विदं व्रजं च
विष्णुः सखिवाँ अपोर्णुते ।।४।

(सखिवान्) इन्द्रादि देवमित्रों वाला (विष्णुः) यह विष्णु (ग्रहविदं) प्रकाश व ज्ञान को प्राप्त कराने वाले (उत्तमं दक्षं) उत्तम बल को (दाधार) धारण करता है । (व्रजं च) दिव्य-शक्ति रूपी गौओं के बाड़े को (अपोर्णुते) उद्घाटित कर देता है। ऐसे (मारुतस्य) मरुत् अर्थात् देव सम्बन्धी (वेधसः) निर्माण करने वाले (ग्रस्य) इस विष्णु के (तं क्रतुं) उस यज्ञ को अर्थात् आरोहण रूपी कर्म को (राजा वरुणः) राजा वरुण और (अश्विना) अश्वी देव (सचन्त) सेवन करते हैं।

विचारणीय यह है कि इस वैष्णव-यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए इस मन्त्र में राजा वरुण और अश्वी देवों का ही स्मरण क्यों किया गया है ? इस सम्बन्ध में हमारा विचार यह है कि गौओं (दिव्य-शक्तियों) के बाड़े को उद्घाटित करने तथा प्रकाश व ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धि के मार्ग में जो शत्रु, मल व आवरण आदि बाधक होते हैं, उन्हें पकड़ने, विनष्ट करने तथा शरीर से बाहर निकालने का कार्य शास्त्रों में वरुण का बताया है।

'वरुणो वा एतं गृह्णाति यः पाप्मना गृहीतो भवति।'

अत उसे स्मरण किया जाना स्वाभाविक है। दूसरे यह यज्ञ विच्छिन्न होता रहता है। अनेक प्रकार से इन ऋषि नामक प्राणों व देवों को विकृति का शिकार होना पड़ता है। उन्हे नीरोग करने, यज्ञ का सन्धान करने आदि का कार्य अश्वियों का है। अतः इस यज्ञ में अश्वि-देवों को भी आह्वान किया गया है। (मारुतस्य वेधसः) मरुत् देवों का नाम है। ये प्राण रूप होते हैं। द्युलोक में इनका निवास है (दिवि देवा दिविश्रिताः) शरीर में यह मस्तिष्क है। यह विष्णु का परम परार्ध्य स्थान है। अत एव वैष्णव यज्ञ द्वारा देवों का निर्माण होता है। विष्णु के संग रहने के कारण ये विष्णु के सखा हैं।

आ यो विवाय सचथाय दैव्य इन्द्राय विष्णुः सुकृते सुकृत्तरः। वेधा अजिन्वत् त्रिषधस्थ आर्यमृतस्य भागे यजमानमाभजत्। ५॥

(यः) जो (सुकृत्तरः) सुकर्माओं में श्रेष्ठ (दैव्य) देवों का हितकारी या द्युलोक-वासी (विष्णुः) विष्णु (सुकृते) श्रेष्ठ कर्म करने वाले (इन्द्राय सचथाय) इन्द्र के सेवन के लिए या सम्पर्क के लिए (आ विवाय) ऊर्ध्वा-रोहण द्वारा आ पहुंचता है। (त्रिषधस्थः) तीन स्थानों में स्थित वह (वेधा) विधाता (आर्य) श्रेष्ठ व्यक्ति को (अजिन्वत्) प्रीणन करता है और (ऋतस्य भागे) ऋत के भाग में (यज-मानं आ भजत्) यजमान को भागी बनाता है अर्थात् उसे ऋत का भाग प्रदान करता है।

इन्द्र का निवास इन्द्रियाधिपति रूप में मस्तिष्क मे है। मस्तिष्क इन्द्र का कार्य-क्षेत्र है। वह इन्द्र इन्द्रियो को कर्म में प्रेरित कर 'सुकृत' नाम को चरितार्थ करता है। परन्तु देवों का उद्गम कराने वाले विष्णु के मस्तिष्क मे पहुंचते ही सब ऐन्द्रियिक कर्म व्यापक व दिव्य रूप मे होने लगते है। विष्णु का ऊर्ध्वारोहण द्वारा इन्द्र के साथ सम्पर्क करने का यही फल है। वे सामान्य कर्म दिव्य बन जाते है। इसलिए विष्णु सभी देवों मे सुकृत्तर माना गया है। विष्णु का

प्रमुख निवास मस्तिष्क (द्यु) में है परन्तु वह प्रारम्भ में ध्रुवा दिशा से ऊर्ध्वारोहण करता हुआ और शत्रु पर विजय लाभ कर स्वशासन स्थापित करता है, अत उसे 'त्रिषधस्थ' भी कहा गया है। आर्य पुरुष को वह तृप्त व प्रीणन करता रहता है और वैष्णव यज्ञ करने वाले यजमान को 'ऋत' गत्यात्मक सत्य – जो कि प्राकृतिक सूक्ष्म तत्वों मे ओत-प्रोत हैं – उसमें हिस्सेदार बनाता है। अर्थात् सूक्ष्म शक्तियों की कार्य-विधि का उसे ऋत के प्रभाव से दिव्य व सूक्ष्म ज्ञान हो जाता है।

—०—

६।६९ सूक्त

बार्हस्पत्यो भारद्वाजः, इन्द्राविष्णू, त्रिष्टुप्

सं वां कर्मणा समिषा हिनोमीन्द्राविष्णू
अपसस्पारे अस्य । जुषेथां यज्ञं द्रविणं च
धत्तमरिष्टैर्नः पथिभिः पारयन्ता ॥१॥

(इन्द्राविष्णू) हे इन्द्र और विष्णु ! – प्रज्ञा-

नात्मा और यज्ञप्रणेता – (वां) तुम दोनों को (कर्मणा) कर्म से तथा (इषा) अन्न से (स हिनोमि) सम्यक् प्रकार से प्रेरित करता हूं । (अस्य) इस (अपस. पारे) उक्थ कर्म की समाप्ति पर तुम दोनों (यज्ञं जुषेथां) इस शरीर यज्ञ का प्रीति पूर्वक सेवन करो और (न:) हमें (अरिष्टै. पथिभि:) हिंसा रहित मार्गों से (पारयन्ता) पार लगाते हुए (द्रविणं धत्त) ऐश्वर्य धारण कराओ ।

यहां मन्त्र में 'कर्मणा' पद से उस कर्म का ग्रहण करना चाहिए जो इन्द्र और विष्णु के सहचार को प्रेरित करे अथवा इनके साहचर्य से होने वाला हो । मनुष्य को ऐसे कर्म करने चाहियें कि जिससे इन दोनों शक्तियों का परस्पर साहचर्य हो और ये प्रवृद्ध हों ।

'अपसस्पारे' अर्थात कर्म की समाप्ति पर यज्ञ का सेवन करने का इनके लिए निर्देश हुआ है । विचारणीय यह है कि वह कौन-सा कर्म है ? कर्म-काण्ड की भाषा में वह 'उक्थ' कर्म है अर्थात् शरीर में दैवी-शक्तियों के उत्थान को करने वाला कर्म है । जब तक शरीर में दैवी

शक्तियां उत्थित नहीं होतीं, तब तक यह कर्म चालू रखना चाहिए।

या विश्वासां जनितारा मतीनामिन्द्राविष्णू कलशा सोमधाना। प्र वां गिरः शस्यमाना अवन्तु प्र स्तोमासो गीयमानासो अर्कैः॥२॥

(या इन्द्राविष्णू) जो इन्द्र और विष्णु (विश्वासा मतीनां) विश्व प्रज्ञाओं के (जनितारा) उत्पन्न करने वाले हैं और (सोमधाना) सोम को धारण करने वाले (कलशा) दो कलशों के समान हैं। (वां) तुम दोनों का (शस्यमानाः) स्तवन करने वाली (गिरः) हमारी वाणियां (प्र अवन्तु) प्रकृष्ट रूप से रक्षा करें तथा (अर्कैः) अर्चना साधनों से (गीयमानासः) गाये जाते हुए (स्तोमासः) स्तुति समूह तुम्हारी रक्षा करें।

इन्द्र और विष्णु ये दोनों सर्व प्रकार की बुद्धियों के जनक हैं। इन दोनों का निवास-स्थान हृदय और मस्तिष्क है। अतः मन्त्र मे इन दोनों स्थानों को कलश मान लिया गया है जिनमे कि सोमरस भरा हुआ है। भक्त वाणी द्वारा इनको

जो स्तुति करता है वह स्तुति इनकी रक्षक है। वाणी तथा अन्य अर्चना साधन (अर्क) आदि इन्द्र और विष्णु के रक्षक इसलिए माने गये हैं कि इनके प्रभाव से मनुष्य में ये दोनों आविर्भूत होते हैं और स्थित रहते हैं।

इन्द्राविष्णू मदपती मदानामा सोमं यातं द्रविणो दधाना। स वामञ्जन्त्वक्तुभि र्मतीनां सं स्तोमासः शस्यमानास उक्थैः ॥३॥

हे इन्द्र और विष्णु ! तुम दोनों (मदानां मदपती) आनन्द व मस्ती प्रदान करने वाले सोमों के स्वामी हो। अथवा आनन्द व मस्ती के तुम स्वामी हो। (द्रविणा दधाना) ऐश्वर्यों को धारण किये हुए तुम (सोमं आयातम्) सोम के पास पहुचो। (उक्थै) उत्थान करने वाले साधनों व स्तोत्रों से (शस्यमानासः स्तोमासः) कथित स्तुति समूह(वां)तुम दोनों को(मतीनां अक्तुभिः) बुद्धियों के व्यक्त व आविर्भूत दिव्य स्थानों से अथवा बुद्धियों की किरणों द्वारा (स अञ्जन्तु) सम्यक् प्रकार से प्रकट करें।

भक्त लोग मस्ती में जब गान करते है तब वे

इन्द्र और विष्णु दिव्य ऐश्वर्य लिये हुए सोम स्थानों में पहुंचते हैं और वहां दिव्य ऐश्वर्य को प्रकट करते हैं। स्तुति समूह के प्रभाव से बुद्धियों के दिव्यस्थानों से वे दोनों प्रकट किये जाते हैं। अक्तु–Ray, Light (मोनियर विलियम)—

आ वामश्वासो अभिमातिषाह
इन्द्राविष्णू सधमादो वहन्तु।
जुषेथां विश्वा हवना मतीनामुप
ब्रह्माणि शृणुतं गिरो मे ।।४।।

(इन्द्राविष्णू) हे इन्द्र और विष्णु! (अभिमातिषाहः) अभिमान आदि पापों व शत्रुओं का अभिभव करने वाले (सधमाद.) सानन्द परस्पर मिले हुए (अश्वासः) प्राण रूपी अश्व (वां) तुम दोनों को (आवहन्तु) वहन करके हमारी ओर लावें। आप दोनों (मतीनां) प्रज्ञाओं के (विश्वा) समग्र (हवना) आह्वानों को (जुषेथां) सेवन करो और (मे ब्रह्माणि) मेरे ब्रह्म सम्बन्धी स्तोत्र तथा (गिरः) अन्य वाणियां भी तुम (उपशृणुतम्) सुनो।

इस मन्त्र में यह प्रार्थना की गई है कि इन्द्र और विष्णु इन दोनों को वहन करने वाले इनके अपने-अपने अश्व परस्पर सानन्द मिले हुए हों। मनुष्य से निहित अभिमाति अर्थात् अभिमान व तद् उद्बुद्ध पापों को ये अश्व विनष्ट करने वाले हों और इन दोनों देवताओं के वाहन अश्व इनको वहन करके हमारी ओर लावें। इन्द्र के अश्व हरि कहलाते हैं और विष्णु के गरुत्मान्। इन्द्र के हरि दिव्य मन की वृत्तियां हैं और विष्णु के अश्व उत्कृष्ट वाक् हैं। इनमें किसी भी प्रकार का अभिमान व तदुत्पन्न पाप प्रविष्ट न हो सके यही प्रयत्न होना चाहिये। ये अश्व इन्द्र को हृदय से वहन करते हैं और विष्णु को कण्ठ व सिर से। प्रश्न यह है कि ये अश्व इन दोनों को वहन करके कहां ले जावे ? इस सम्बन्ध मे मन्त्र में कहा है—

'जुषेथां विश्वा हवना मतीनाम् ।'

अर्थात् मति बुद्धियों के आह्वानों को ये सुने और सेवन करे। बुद्धि स्थानों मे पहुंच ये उन्हें व्यापक बनावे। मन्त्र मे "ब्रह्माणि" पद से वेद मन्त्रोक्त स्तुतियों का ग्रहण करना है और "गिरः" से सामान्य वाणियों का।

इन्द्राविष्णू तत्पनयाय्यं वां
सोमस्य मद उरु चक्रमाथे ।
अकृणुतमन्तरिक्षं वरीयोऽप्रथतं
जीवसे नो रजांसि ॥५॥

हे इन्द्र और विष्णु ! (वां) तुम दोनों का (तत् कर्म) वह कर्म (पनयाय्यं) स्तुत्य है जो तुम (सोमस्य मदे) सोमपान की मस्ती में (उरुचक्रमाथे) विस्तृत रूप मे क्रमण करते हो और जो (अन्तरिक्षं वरीयः अकृणुतम्) हृदय रूपी अन्तरिक्ष को विस्तृत व श्रेष्ठ कर देते हो (रजांसि) लोकों को (नः जीवसे) हमारे जीने के लिये (अप्रथतम्) फैला देते हो ।

यह क्रमण मुख्य रूप से विष्णु का ही माना जाता है, पर इन क्रमणों में इन्द्र भी साथ होता है । अत. साहचर्य धर्म से यहां मन्त्र मे दोनों का ही क्रमण कह दिया गया है । यह क्रमण सोम की मस्ती मे होता है । जिस व्यक्ति मे यह क्रमण घटित होता है । उसका हृदय विशाल व व्यापक बन जाता है; उसके विचरण के स्थान विस्तृत हो जाते हैं ।

इन्द्राविष्णू हविषा वावृधानाऽग्रा-
द्वाना नमसा रातहव्या ।
घृतासुती द्रविणं धत्तमस्मे
समुद्रः स्थः कलशः सोमधानः ॥६॥

हे इन्द्र और विष्णु, तुम दोनों (हविषा वावृधाना) हवि द्वारा वृद्धि को प्राप्त होने वाले (अग्राद्वाना) श्रेष्ठ भोज्य पदार्थ का संविभाग करने तथा भक्षण करने वाले हो (नमसा रातहव्या) नमन भाव से जिन्हें आहुति प्रदान की जाती है ऐसे (घृतासुती) घृत अर्थात् तेज का सेवन करने वाले तुम (अस्मे) हमारे मे (द्रविणं धत्तं) ऐश्वर्य धारण कराओ । तुम (समुद्रः) समुद्र रूप व (सोमधान कलशः स्थः) सोम धारण करने वाले कलश रूप हो।

इस मन्त्र में इन्द्राविष्णू का "अग्राद्वाना" विशेषण विशेष विचारणीय है । इसको निम्न दो व्युत्पत्तियां हो सकती हैं ।

अग्रमद्यते यत् तत् अग्रात् तस्य संवि-
भक्तारौ (वनषण सम्भक्तौ) ।

अर्थात् ये अग्र-श्रेष्ठ भोज्य पदार्थ का संविभाग करने वाले हैं। दूसरी व्युत्पत्ति इस प्रकार हो सकती है। अग्र+अद्+वनिप् श्रेष्ठ भोज्य पदार्थ का भक्षण करने वाले। अग्र का अर्थ प्रारम्भिक भी किया जा सकता है। इन्द्र और विष्णु के प्रकरण में प्रारम्भिक भोजन शुक्र अर्थात् वीर्य है। यह वीर्य ऊर्ध्वारोहण द्वारा शक्ति केन्द्रों का जब भोजन बनता है, तब इन्द्र और विष्णु सम्बन्धी शक्तियां प्रवृद्ध होती हैं। ये दोनों समुद्र भी है और सोम से भरे कलश भी है अथवा इन्द्र का स्थान मानस समुद्र है और विष्णु का स्थान मस्तिष्क कलश है। मस्तिष्क को शास्त्रों में द्रोण-कलश भी कहा है।

इन्द्राविष्णू पिबतं मध्वो अस्य
सोमस्य दस्रा जठरं पृणेथाम्।
आ वामन्धांसि मदिराण्यग्मन्नुप
ब्रह्माणि शृणुतं हवं मे ॥७॥

(दस्रा) दर्शनीय अथवा शत्रुओं का उपक्षय करने वाले हे इन्द्र और विष्णु तुम दोनों (अस्य मध्वः सोमस्य) इस मधुर सोम का (पिबतं) पान

करो और (जठरं पृणेथाम्) अपने जठर को सोम से पूर्ण करो। (वां) तुम दोनों (मदिराणि) मस्ती देने वाले (अन्धांसि) सोम रूप अन्नों को (आ अग्मन्) प्राप्त होओ और (मे) मेरे (ब्रह्माणि) ब्रह्म सम्बन्धी स्तोत्रों तथा (हवं) आह्वान को (उपश्रृणुतम्) सुनो।

"दस्रा" शब्द प्रायः "अश्विनौ" के लिये प्रयुक्त होता है। परन्तु यहां इन्द्र और विष्णु के लिये भी प्रयुक्त हुआ है।

उभा जिग्यथुर्न परा जयेथे
न परा जिग्ये कतरश्चनैनोः।
इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथां
त्रेधा सहस्रं वि तदैरयेथाम् ॥८॥

हे इन्द्र और विष्णु, (उभा) तुम दोनों (जिग्यथुः) शत्रुओं पर विजय प्राप्त करते हो (न पराजयेथे) पराजित नहीं होते हो (एनोः) इन दोनों में (कतरश्चन) कोई भी (न पराजिग्ये) पराजित नहीं होता। (विष्णो) हे विष्णु, (इन्द्रः च) और वह इन्द्र तुम दोनों असुरों से (यत्) जिस क्षेत्र में (अस्पृधेथां) स्पर्धा करते हो

(तत् त्रेधा) वह क्षेत्र तीन मे विभक्त है । तुम (सहस्रं) सहस्रों रूपों में (वि ऐरयेथाम्) विविध गतियुक्त होते हो ।

पूर्व मन्त्रों में हम यह दर्शा चुके हैं कि इन्द्र और विष्णु दोनों मिलकर ही कार्य का निर्वाह करते हैं । दोनों की असुरों से तो स्पर्द्धा है, परस्पर नहीं है । पश्चात् भावी कथानक भी यही निर्देश करते हैं । मै. प. ४।१२।५ में उभा जिग्यथुः-के शीर्षक से—

"इन्द्राविष्णू दृंहिता शम्बरस्य०, उत माता महिषमन्ववेनदमीत्वा० ।"

ये दोनों याज्यानुवाक्या नामक मन्त्र दिये है। इन मन्त्रों मे भी शम्बर व वृत्र आदि असुरों से इन्द्र और विष्णु की स्पर्द्धा व संघर्ष दिखाकर दोनों की विजय (उभा जिग्यथुः) बतायी है ।

त्रेधा सहस्रं विऐरयेथाम्--लोकत्रयी में सहस्रों प्रकार की गतियां हैं । वेदत्रयी में भी सहस्रों प्रकार का ज्ञान भरा हुआ है ।

—०—

ऋग्वेद ७।९९ सूक्त

मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । विष्णुः,
४–६ इन्द्राविष्णू । त्रिष्टुप् ।

परो मात्रया तन्वा वृधान
न ते महित्वमन्वश्नुवन्ति ।
उभे ते विद्म रजसी पृथिव्या
विष्णो देव त्वं परमस्य वित्से ॥१॥

(मात्रया तन्वा) इस मात्रा अर्थात् माप वाले शरीर से (पर) परे व बाहिर (वृधान) प्रवृद्ध होने वाले हे विष्णो ! (ते महित्वं) तेरी महिमा को (न अन्वश्नुवन्ति) कोई नहीं व्याप्त कर सकता। (ते) तेरे (पृथिव्या.) पृथिवी सम्बन्धी (उभे रजसी) दोनों लोकों (पृथिवी, अन्तरिक्ष अथवा अन्नमय, प्राणमय) को (विद्म) हम जानते हैं (विष्णो देव) हे दिव्य रूप विष्णु ! तू (परमस्य वित्से) परमलोक को प्राप्त कर लेता है अथवा परमलोक को प्राप्त कराता है।

मात्रया तन्वा—मात्रा का सम्बन्ध माप से है। मात्राओं वाला यह हमारा शरीर है, इसका एक माप है। हमारे अन्दर विद्यमान

विष्णु-शक्ति जब प्रवृद्ध होती है तब वह इस मात्रा व माप वाले शरीर को भी लांघ जाती है। तब यह हमारा शरीर व इन्द्रियां आदि उस वैष्णव शक्ति के नियामक नहीं रहते। अर्थात् वह शक्ति इन इन्द्रिय आदियों में अवरुद्ध नहीं रहती। वह इतनी व्यापक हो जाती है कि कोई भी उसका अनुगमन कर उसके पार को नहीं पा सकता। मनुष्य अन्नमय और प्राणमय क्षेत्रों में विचरण करती हुई वैष्णव शक्ति को किसी अंश मे जान भी सकता है, पर इससे ऊर्ध्व में विचरती हुई इस शक्ति को पूर्ण रूप में जान सकना मनुष्य की सामर्थ्य से बाहिर है। यही भाव ऋग्वेद १।१५५।५ मन्त्र मे भी आया है।

न ते विष्णो जायमानो न
जातो देव महिम्न परमन्तमाप।
उदस्तभ्ना नाकमृष्वं बृहन्तं
दाधर्थ प्राची ककुभं पृथिव्याः॥२॥

(देव विष्णो) हे दिव्य-गुण युक्त विष्णो! (ते महिम्नः) तेरी महिमा के (परं अन्तं) परम अन्त को (जायमानः) वर्तमान में उत्पन्न तथा

(जातः) भूतकाल में उत्पन्न कोई भी (न आप) नहीं प्राप्त कर सकता है। तूने (बृहन्त) महान् (ऋष्वं) दर्शनीय (नाक) स्वर्लोक को (उदस्तभ्नाः) ऊपर थामा हुआ है और (पृथिव्याः प्राचीं ककुभं) पृथिवी की पूर्व दिशा को (दाधर्थ) धारण किया हुआ है।

पृथिवी की प्राची दिशा शरीर में आगे के भाग में है। नाक लोक शिर है और ललाट देवों का निवास स्थान माना गया है। वीर्य रूपी विष्णु का स्थान भी शरीर के अग्रभाग में है।

इरावती धेनुमती हि भूतं
सूयवसिनी मनुषे दशस्या।
व्यस्तभ्ना रोदसी विष्णवेते
दाधर्थ पृथिवीमभितो मयूखैः ॥३॥

हे द्यावा पृथिवी, तुम दोनों (इरावती) अन्न वाली (धेनुमती) गौ आदि पशुओं तथा किरणों वाली (सूयवसिनी) उत्तम अन्न व घास आदि वाली हो अतः (मनुषे) मनुष्य के लिये (दशस्या भूतं) सब कुछ प्रदान करने वाली हो। हे विष्णो,

(ऐते रोदसी) इन द्यावा पृथिवी को तुमने (व्यस्तम्ना) विशेष रूप में थामा हुआ है और (पृथिवीं) पृथिवी को (अभितः) चहुं ओर से (मयूखैः) किरणों व आकर्षण शक्तियों से (दाधर्थ) धारण किया हुआ है।

मनुष्य की भक्षण के लिये नानाविधि अन्न, दुग्धपान के लिये गौएं तथा प्राणादि धारण के लिये, ये सूर्य रश्मियां आदि सब कुछ द्यावा पृथिवी से प्राप्त होता है। यह सब कुछ उसी विष्णु के प्रभाव से उपलब्ध होता है। क्योंकि उसी की शक्ति ने इन द्यावा पृथिवी को थामा हुआ है। सूर्य व उसकी किरणें उस विष्णु भगवान के ही उपकरण हैं। इनमें वैष्णव शक्ति निहित होकर कार्य करती है—

उरुं यज्ञाय चक्रथुरु लोकं
जनयन्ता सूर्यमुषासमग्निम्।
दासस्य चिद् वृषशिप्रस्य माया
जघ्नथुर्नरा पृतनाज्येषु ॥४॥

हे इन्द्र और विष्णु, (यज्ञाय) आध्या-

त्मिक यज्ञ के लिये (सूर्यं) विज्ञानात्मा सूर्य को (उषासं) दिव्य उषा को (अग्नि) अग्नि को (जनयन्ता) उत्पन्न करते हुए तुम दोनों ने (लोक) द्युलोक=मस्तिष्क को (उरुं चक्रथुः) विस्तृत बनाया (नरा) इस यज्ञ के नेता तुम दोनों (वृषशिप्रस्य) बलवान् हनु व नासिका वाले (दासस्य) उपक्षय करने वाले शत्रु की (चित्) भी (मायाः) माया को (पृतनाज्येषु) सग्रामों मे (जघ्नथुः) विनष्ट कर देते हो।

ब्रह्माण्ड मे यह वैष्णव-यज्ञ प्राकृतिक नियमों के आधार पर चल ही रहा है। पर अध्यात्म क्षेत्र में इसको सुचारू रूप में चलाने के लिये सतत अध्यवसाय की नितान्त आवश्यकता है। अध्यात्म क्षेत्र में इस वैष्णव यज्ञ की पूर्ण सार्थकता इसके दिव्यीकरण में है। इन्द्र और विष्णु ये दोनों मिलकर जब इस यज्ञ को पूर्ण करते हैं तब विज्ञानात्मा सूर्य दिव्य उषा और अग्नि, ये दिव्य बनते हैं। सर्व प्रथम, प्राण और मुख ये दोनों शिप्र कहे गये हैं। जब ये दोनों "वृष+शिप्र" वीर्य-शाली व बलवान् होते हैं। तब इनकी नानाप्रकार की माया प्रकट होती है जो कि अहंकार से प्रभावित

होती है। ये आसुरी शक्ति के रूप हैं। दिव्य स्वरूप वाली इन्द्र व विष्णु शक्तियों को प्रकट होने से ये रोकते हैं। अतः इनका विनाश करना आवश्यक होता है। ये इन्द्र और विष्णु ही इस वृषशिप्र की आसुरी माया का विनाश करते हैं।

इन्द्राविष्णू दृंहिताः शम्बरस्य नव पुरो नवतिं च श्नथिष्टम्। शतं वर्चिनः सहस्रं च साकं हथो अप्रत्यसुरस्य वीरान् ॥५॥

(इन्द्राविष्णू) हे इन्द्र और विष्णु ! तुम दोनों ने (दृंहिताः) दृढ़ (नवनवतिं) निन्यानवे (शम्बरस्य पुरः) शम्बर की पुरियां (श्नथिष्टम्) विनष्ट कर दीं और (शतं सहस्रं च वर्चिनः) सैकड़ों व सहस्रों वर्चस्वी (असुरस्य वीरान्) असुर के वीरों को (अप्रति) प्रतिद्वन्द्वी न बन सकें। इस रूप में (साकं) आसुरी पुरी के विभेदन के साथ ही (हथः) विनष्ट कर दिया।

श्नथ—हिंसायाम्।

इयं मनीषा बृहती बृहन्तोरुक्रमा तवसा वर्ध-
यन्ती। ररे वां स्तोमं विदथेषु विष्णो पिन्व-
तमिषो वृजनेष्विन्द्र ।।६।।

(बृहन्ता) महान् (उरुक्रमा) विस्तृत व व्यापक क्रमण करने वाले हे इन्द्र और विष्णु ! तुम दोनों को यह मेरी (बृहती) महान् (मनीषा) बुद्धि (तवसा वर्धयन्ती) बल से प्रवृद्ध करती रहती है, (विदथेषु) ज्ञान-यज्ञों में (वां) तुम दोनों को मैं (स्तोम) स्तुति समूह (ररे) प्रदान करता रहता हूं । हे इन्द्र और विष्णु तुम दोनों (वृजनेषु) युद्धों मे (इष) दिव्य अन्न को (पिन्वतम्) क्षरित करते रहो अर्थात् मेरे अन्दर दिव्य अन्न को अवतरित करते रहो ।

'बृहती मनीषा' द्युलोक सम्बन्धी मनीषा को कहते हैं । क्योंकि 'बृहत्' पद द्युलोक से सम्बन्ध रखता है । 'बृहती' का सामान्य अर्थ 'महती' पूर्ण अर्थ नहीं है । 'बृहती' में दिव्यता का भी समावेश है यह हमने 'बृहत्' पर लिखते हुए विस्तार से प्रदर्शित किया है । 'विदथेषु' शब्द 'विद्लृलाभे'

'विदज्ञाने' दोनों धातुओं से निष्पन्न होने के कारण दोनों का भाव अपने अन्दर समाविष्ट किए हुए है। ज्ञान की उपलब्धि ज्ञान-यज्ञ ही है।

वषट् ते विष्णवास आ कृणोमि तन्मे जुषस्व शिपिविष्ट हव्यम् । वर्धन्तु त्वा सुष्टुतयो गिरो मे यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥७॥

(विष्णो) हे व्यापक विष्णुदेव ! (ते) तुम्हारे लिए (आस) मुख से (वषट् आ कृणोमि) वषट् रूप में आहुति प्रदान करता हू। (शिपिविष्ट) ज्योतिर्मय किरणों से आवृत हे विष्णो ! (तत्) उस (मे हव्यं) मेरी हवि को (जुषस्व) सेवन करो। (सुष्टुतय) उत्तम स्तुति रूप (मे गिरः) मेरी वाणियां (त्वा वर्धन्तु) तुझे वृद्धिगत करे । हे विष्णु आदि देवो ! (यूयं) तुम सब (नः) हमारी (स्वस्तिभिः पात) उत्तम कल्याणों से रक्षा करो ।

'वषट्' स्वाहा का एक रूप है । इसमें ओज व बल का आश्रय लिया जाता है। मुख से ओजस्वी वाणी द्वारा विष्णु के प्रति आत्मिक आहुति प्रदान

करना यहां वर्णित हुआ है और दूसरे शिपिविष्ट आन्तरिक ज्योतिर्मय रश्मियों से आवृत विष्णु भगवान् के साक्षात्कार की एक आध्यात्मिक प्रक्रिया का यहां उल्लेख हुआ है। वह इस प्रकार कि वषट् द्वारा प्रदत्त आहुति तथा स्तुति से वह शिपिविष्ट विष्णु भगवान् हमारे अन्दर प्रवृद्ध होता है और प्रकट होता है।

—o—

७।१०० सूक्त

मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः, विष्णुः, त्रिष्टुप्

नू मर्तो दयते सनिष्यन् यो विष्णव उरुगा-
याय दाशत् । प्र यः सत्राचा मनसा यजात
एतावन्तं नर्यमाविवासात् ॥१॥

(यः मर्तः) जो मनुष्य (उरुगायाय) अत्यन्त गतिशील या अत्यधिक स्तुत्य (विष्णवे) विष्णु भगवान् के प्रति (दाशत्) आत्मार्पण कर

देता है वह (सनिष्यन्) वैष्णव ऐश्वर्य का सेवन करता हुआ (नू) शीघ्र ही (दयते) अन्य प्राणियों पर दया करता है । (यः) जो (सत्राचा) विष्णु सत्र में व्याप्त (मनसा) मन से (प्र यजात) प्रकृष्ट रूप में यजन करता है वह (एतावन्तं नर्यं) सत्र परिमित मानव हित-कारी भगवान् का (आ विवासात्) चहुं ओर से सेवन करता है ।

मनुष्य जब विष्णु को आत्मार्पण कर देता है तो उसे अनेक प्रकार के दिव्य ऐश्वर्यों की उपलब्धि होती है । मन्त्र कहता है कि वह स्वयं अकेला ही उन ऐश्वर्यों का उपभोग नहीं करता अपितु अन्य प्राणियों को भी उसमें हिस्सा देता है । वह औरों पर दया करता है । शरीर में विष्णु भगवान् की परिचर्या का स्वरूप यह है कि शरीर के जिस अंग सत्र (याग) में मन द्वारा प्रकृष्ट रूप से मेल व एकरूपता हो जाती है, उतना वह विष्णु भगवान् को आवृत कर लेता है । उतनी वैष्णव शक्ति उसमें प्रादुर्भूत हो जाती है ।

त्वं विष्णो सुमतिं विश्वजन्यामप्रयुतामेव-
यावो मतिं दाः । पर्चो यथा नः सुवितस्य
भूरेरश्वावतः पुरुश्चन्द्रस्य रायः ॥२॥

(एवयावः) ऐश्वर्य व ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी गतियों को प्राप्त कराने वाले (विष्णो) हे विष्णुदेव ! (त्व) तू (सुमतिं) शोभन ज्ञान वाली (विश्वजन्यां) विश्व की उत्पादक (अप्रयुतां) विविध प्रकार की (मतिं) बुद्धि को (दाः) प्रदान कर (यथा) जिससे (अश्वावतः) प्राण वाले अथवा विज्ञान सूर्य वाले अथवा (पुरुश्चन्द्रस्य) प्रभूत आनन्द-प्रद अथवा हिरण्य रूप वाले (भूरेः रायः) अत्यधिक ऐश्वर्य का (नः) हमारे साथ (पर्चः) सम्पर्क हो ।

विश्वजन्याम्—विश्वं जन्यं यथा ताम् ।
या विश्वमखिलं जगज्जनयति
प्रकटयति ताम । —दयानन्द

एवयावः—एवः एवैः कामैरयनैरवनैर्वा ।
—निरुक्त १२।२१

एवान् याति प्राप्नोति प्रापयति तत् सम्बुद्धौ ।

अप्रयुताम्—प्रकर्षेण युतां मिलितां न प्रयुताम-प्रयुतां वियुक्तां विभक्तां विविधां वा ।

पुरुश्चन्द्रस्य—पुरूणां बहूनां चन्द्रः आह्लादकस्तस्य । बहुहिरण्यादियुक्तस्य वा ।

—दयानन्द

मन्त्र में विश्वजन्या बुद्धि अर्थात् अखिल जगत् को प्रकट करने वाली बुद्धि की मांग इस बात को सिद्ध करती है कि हमें शब्दों के व्यापक अर्थों का ग्रहण करना चाहिए अर्थात् विष्णु भगवान् के प्रभाव से भक्त को विश्व का ज्ञान हो जाता है। चन्द्र से तात्पर्य आह्लाद का तो है ही पर साथ में विष्णु भगवान् की हिरण्य गर्भ अवस्था के हिरण्मय रूप वाले समग्र तत्वों का ज्ञान इस विश्वजन्या बुद्धि से होना अभीष्ट है। वह पुरुश्चन्द्र वाला भूरिऐश्वर्य हिरण्मय ऐश्वर्य ही है।

अश्व—अश्व पद से प्राणबल व विज्ञान सूर्य दोनों का ग्रहण किया जा सकता है।

त्रिर्देवः पृथिवीमेष एतां
विचक्रमे शतर्चसं महित्वा ।
प्रविष्णुरस्तु तवसस्तवीयान्
त्वेषं ह्यस्य स्थविरस्य नाम ॥३॥

(एष देवः) यह विष्णु देव (शतर्चसं) सैकड़ों दीप्तियों वाली (एतां पृथिवीं) इस पृथिवी को अर्थात् तीनों पार्थिव लोकों को (महित्वा) अपनी महिमा से (त्रिः विचक्रमे) तीन पदों से विक्रमण करता है। (तवसः तवीयान्) बल से अत्यधिक बलवान् यह विष्णु (प्र अस्तु) हमारे अन्दर प्रकृष्ट रूप में रहे (अस्य) इस (स्थविरस्य) प्रवृद्ध विष्णु का (नाम) नाम और रूप (त्वेषं) प्रदीप्त व तेजयुक्त है।

शतर्चसम्—

शतान्यर्चींषि यस्यास्तादृशीम् ।

—सायण ।

शतविधगतियुक्ताम् ।

—तै ब्रा. सायण ।

इन तीनों लोकों में सैकड़ों प्रकार की ज्यो-

तियां हैं। विष्णु की ज्योति इन सब ज्योतियों में श्रेष्ठ है। बलशालियों में यह सबसे अधिक बलवान है। मन्त्र कहता है कि मनुष्य में विष्णु का रूप प्रबल शक्तिवाला तथा सर्वश्रेष्ठ होना चाहिये। यह विष्णु सर्व प्रथम वामन रूप में होता है, शनैः शनैः यह प्रवृद्ध होता है और अपनी अन्तिम अवस्था मे जिसे कि मन्त्र मे स्थविर नाम दिया गया है "त्विट्" प्रदीप्त रूप का होता है। शरीर की दृष्टि से यह सोम व रेतस् रूप वाला विष्णु अन्तिम अवस्था मे पहुंच कर ज्योति रूप को धारण कर लेता है। यहां 'नाम' पद से नाम और रूप दोनों का ग्रहण अभीष्ट है।

वि चक्रमे पृथिवीमेष एतां
क्षेत्राय विष्णुर्मनुषे दशस्यन्।
ध्रुवासो अस्य कीरयो जनास
उरुक्षितिं सुजनिमा चकार ॥४॥

(एष विष्णुः) यह विष्णु (एतां पृथिवीं) इस पृथिवी को (मनुषे क्षेत्राय) मनुष्य के निवास के लिये (दशस्यन्) देता हुआ (विचक्रमे) क्रान्त करता है (अस्य) इस विष्णु के (कीरयः जनासः)

स्तुति कर्ता मनुष्य (ध्रुवासः) स्थिर बुद्धि व स्थिर स्वभाव के होते हैं। यह (सुजनिमा) श्रेष्ठ जन्म वाला विष्णु (उरुक्षिति) निवास को विस्तृत करता है।

यह मन्त्र ब्रह्माण्ड व पिण्ड दोनों क्षेत्रों में सुचारु रूप से घटाया जा सकता है। मनुष्य जाति मे जब यज्ञीय-भावना पैदा हो जाती है, तब परस्पर सहार व विनाश आदि न कर मनुष्य पृथिवी को स्वर्गोपम-निवास-स्थान बना लेते हैं। उनका स्वभाव स्वयं स्थिर व उदार होता है। अतः पृथिवी पर भी उनका निवास स्थिर रूप में होता है। 'कीरि' स्तोता को कहते हैं। विष्णु के स्तोता स्वभावत: ध्रुव स्वभाव के होते हैं।

प्र तत्ते अद्य शिपिविष्ट नामार्यः
शंसामि वयुनानि विद्वान्।
तं त्वा गृणामि तवसमत-
व्यान् क्षयन्तमस्य रजसः पराके ॥५॥

(शिपिविष्ट) ज्योतिर्मय किरणों से आवृत हे विष्णु ! (ते) तेरे (वयुनानि) ज्ञान-विज्ञान

सम्बन्धी कर्मों को (विद्वान्) जानता हुआ मैं (अद्य) आज (तत् नाम) उस प्रसिद्ध (शिपिविष्ट) नाम की (प्रशंसामि) प्रशंसा करता हूं (अर्यः) तू सबका स्वामी है (अतव्यान्) अल्पबल व अल्पप्रज्ञ मैं (अस्य रजस पराके) इस राजसी लोक से परे (क्षयन्त) निवास करने वाले (तवसं) बलवान् (तंत्वा) उस तेरी (गृणामि) स्तुति करता हूं।

अर्थः—यास्काचार्य ने 'अर्यः' पद को स्तोता तथा विष्णु भगवान् दोनों के प्रति घटाया है। यास्क आदि कई विद्वान् शिपिविष्ट का प्रशंसापरक अर्थ ग्रहण करते हैं और औपमन्यव कुत्सितार्थ में मानते हैं। 'रजसः पराके' स्कन्द स्वामी ने "रजस" पद से सोमलोक का ग्रहण किया है। सोमलोक से परे द्युलोक है। द्युलोक में विष्णु भगवान् का निवास माना गया है। शरीर में यह हृदयस्थ मन का क्षेत्र माना जा सकता है। मन से ऊर्ध्व में मस्तिष्क का क्षेत्र आता है जहां कि विष्णु का निवास माना गया है।

तवसम्-अतव्यान्—ये दोनों पद बल व महान् अर्थों को प्रकट करते हैं। इनकी व्युत्पत्ति 'वृद्ध्य-

र्थक' तव धातु से की जाती है । स्कन्दस्वामी लिखते हैं—

तवतेर्वृद्ध्यर्थस्य तुश्छन्दसि इति तृन्न न्तादीयसुनि त्यदादिलोपेन तव्यानिति रूपम् । न तव्यान् अतव्यान् अतिशयेनाबर्द्धितः प्रज्ञया अत्यन्तमहमल्पप्रज्ञः इत्यर्थः ।

किमित्ते विष्णो परिचक्ष्यं भूत्
प्र यद् ववक्षे शिपिविष्टो अस्मि ।
मा वर्पो अस्मदपगूह एतद्
यदन्यरूपः समिथे बभूथ ।।६।।

(विष्णो) हे विष्णु ! तू (यत्) जो यह (प्रववक्षे) बताता है व प्रदर्शित करता है कि (शिपिविष्टो अस्मि) मैं शिपिविष्ट हूं अर्थात् बाल रश्मियों से आवृत होने से वामन रूप हूं। (किमित् ते) क्या यह तेरा रूप (परिचक्ष्यं भूत्) प्रख्यापनीय है ? क्या इससे उत्कृष्ट व तेजस्वी रूप नहीं है ? (यत्) जो कि (अन्यरूप.) शिपिविष्ट से अतिरिक्त उग्र रूप वाला होकर तू

(समिथे बभूथ) शत्रुओं के साथ युद्ध करते हुए दृष्टिगोचर होता है (एतत् वर्पः) उस उग्र रूप को (अस्मत्) हमसे (मा अपगूह) मत छिपा।

शिपिविष्ट—औपमन्यव आचार्य द्वारा प्रकट किए गये कुत्सितार्थ तथा यास्क आदि द्वारा प्रदर्शित प्रशंसापरक अर्थों पर हमने अन्यत्र स्वतन्त्र रूप से विचार किया है। भक्त की विष्णु भगवान के उस प्रबल प्रतापी रूप के दर्शन की लालसा कितनी उग्र है यह मन्त्र से स्पष्ट है। वह कहता है कि कोमल बाल रश्मियों वाले रूप से ही कार्य न चलेगा। आसुरी शक्तियों से युद्ध करने में उग्र रूप से ही काम बनेगा। अतः उस प्रबल प्रतापी व उग्र रूप का तू दर्शन करा, यह भक्त की आसुरी शक्तियों के आक्रमण के समय की प्रार्थना है।

—इति शुभम्—

आत्म-समर्पण : सम्मति

मया पं० भगवद्दत्त वेदालंकार एम. ए विरचितम् 'आत्म-समर्पणम्' पुस्तकम्पठितम् । पुस्तकमिदम् वैदिक-मन्त्राणां स्वाध्यायबुद्धचा हिन्दी भाषायाम् अर्थसग्रहात्मकं विद्यते । 'यद्‌दासि यदश्नासि यज्जुहोषि करोषि-यत् । यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥' इति भगवद्गीता प्रामाण्येन मानवकर्मण ईश्वरार्पणसमर्थने निवद्धमिदं पुस्तकं दाश्वान् अग्नि-इन्द्र-सोम-अश्वि-सवितृ प्रभृति वैदिकशब्दानामर्थविवेचने सम्यक् विनियुक्त विद्यते । पुस्तकस्याध्ययनेन वैदिक-मन्त्राणां वैदिक-कथानकानां च साधुभावावबोधोजायते । अह लेखकमहोदयस्यानुसन्धानसरणि प्रशसयन् स्वाध्यायशीलान् पाठकान् प्रेरयेऽध्येतुमीदृशानिसर्वाण्यपि तदीयग्रन्थरत्नानि विविधार्थनिर्देशपुरस्सरवेदमाहात्म्यप्रख्यापकानीतिशम् ।

—श्रीगोपाल शास्त्री,
अध्यक्ष, श्री काशी पण्डित सभायाः ।

वैदिक-स्वप्न-विज्ञान : सम्मति

'वैदिक-स्वप्न-विज्ञान' पढ़ लिया ! उत्तम है, आपने बहुत परिश्रम किया है वेद के विद्यार्थियों के लिए उपादेय वस्तु है ।

—इन्द्र विद्यावाचस्पति,
संचालक : 'वीर-अर्जुन' दिल्ली ।

वैदिक-स्वप्न-विज्ञान : सम्मति

श्री प० भगवद्दत्त वेदालकार द्वारा लिखित 'वैदिक-स्वप्न-विज्ञान' नामक निबन्ध के कुछ स्थलो को सुन कर मुझे वास्तव में बडी प्रसन्नता हुई। निबन्ध में स्वप्न के विषय मे वैदिक-साहित्य की दृष्टि से जो गम्भीर विवेचना की है वह सर्वथा सराहनीय है और इस विषय पर नये प्रकाश को डालने वाली है। इस विद्वत्तापूर्ण निबन्ध के लिये हम हृदय मे लेखक महाशय का अभिनन्दन करते हैं।

—डा० मगलदेव शास्त्री,

प्रिंसिपल, गवर्नमेंट संस्कृत कालेज, बनारस।

वैदिक-अध्यात्म-विद्या : सम्मति

१६५ पृष्ठ की यह पुस्तक श्री प० भगवद्दत्त वेदालकार ने 'बलासुर बध' नामक वेदान्तगत आलकारिक गाथा पर सुन्दर, सोपपत्तिक वर्णन किया है। ससार की नाना प्रकार की वासनाए ही बल हैं उन्ही के बध पर्यन्त विनाश करने से ही मनुष्य अन्तर्मुख हो कर आत्म-साक्षात्कार कर सकता है यही अध्यात्म-तत्व है।

—नरदेव शास्त्री, वेदतीर्थ।